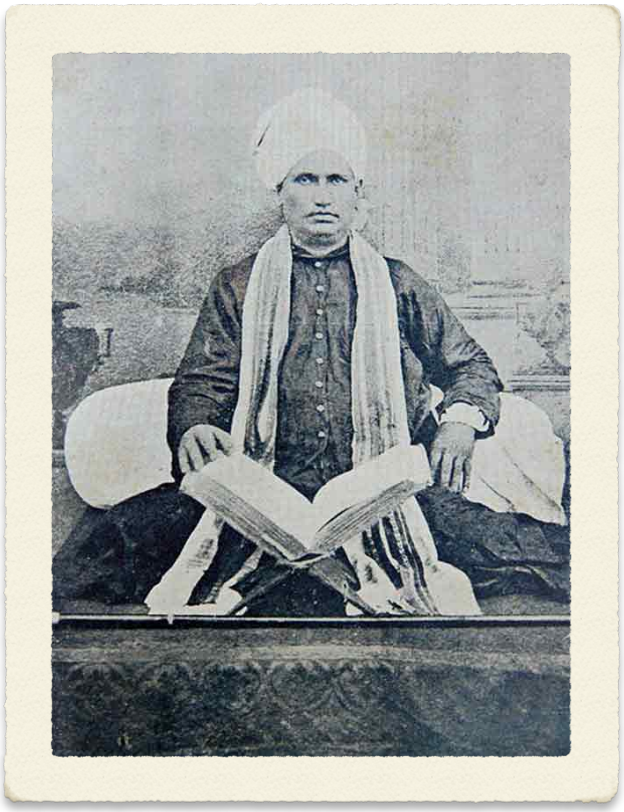
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका



लेखक

स्वामी दयानन्द सरस्वती

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-विषय-सूचीपत्रम् (जिसे पढ़ना हो, उसे स्पर्श करें)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका.....1

(१) अथ-ईश्वरप्रार्थनाविषयः.....4

(२) अथ वेदोत्पत्तिविषयः.....17

(३) वेदानां नित्यत्वविचारः.....43

(४) अथ वेदविषयविचारः.....64

(५) अथ वेदसंज्ञाविचारः.....132

(६) अथ ब्रह्मविद्याविषयः.....147

(७) अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते.....154

(८) सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः.....187

(९) अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः.....219

(१०) अथाकर्षणानुकर्षणविषयः.....224

(११) अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः.....230

(१२) गणितविद्याविषयः.....234

(१३) अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः.....239

(१४) अथोपासनाविषयः संक्षेपतः.....249

(१५) मुक्तिविषयः संक्षेपतः.....304

(१६) अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः.....318

(१७) अथ ताराविद्यामूलं संक्षेपतः.....333

(१८) अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः 335
(१९) अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः 337
(२०) अथ विवाहविषयः संक्षेपतः 347
(२१) नियोगविषयः संक्षेपतः.....350
(२२) राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः 358
(२३) अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः.....387
(२४) अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः 407
(२५) ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः 451
(२६) अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः 511
(२७) अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः 518
(२८) अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः.....528
(२९) अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः 554
(३०) अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः.....560
(३१) अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः 575
(३२) अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः.....578
(३३) अथ व्याकरणनियमविषयः 581
(३४) अथालङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः.....603
(३५) अथ ग्रन्थसंकेतविषयः 607

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

(१) अथ-ईश्वरप्रार्थनाविषयः

मङ्गलकामना

ओ३म् स॒ह नाव॑वतु। स॒ह नौ॑ भुनक्तु। स॒ह वी॒र्य्यं॑ करवावहै। ते॒ज॒स्वि नाव॑धीतमस्तु मा वि॑द्वि॒षा॒वहै॑। ओ३म् शान्ति॒: शान्ति॒: शान्ति॑:॥१॥ (तै०आ० ९.१)

(सह नाववतु) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग एक दूसरे की रक्षा करें, (सह नौ भुनक्तु) और हम सब लोग परम प्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें, (सह वीर्य्यं करवावहै) हे कृपानिधे! आपकी सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें, (तेजस्वि नावधीतमस्तु) हे प्रकाशमय सब विद्या के देने वाले परमेश्वर! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों को पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्वषावहै) हे प्रीति के उत्पादक! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें। (ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः) हे भगवन्! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप-एक आध्यात्मिक जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा आधिभौतिक जो दूसरे प्राणियों से होता है, और तीसरा आधिदैविक जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये, जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें। यही आपसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये॥१॥

ईश्वरस्तुति

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,

विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी।

वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,

तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥१॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त [अनादि, विश्व का कर्ता, अज, सत्य, सनातन] आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेदविद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेमभक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूँ॥१॥

{एक हस्तलिखित प्रति में यह अर्थ लिखा है—(ब्रह्मनन्तेति०) जो (ब्रह्म) सबसे बड़ा (अनन्त) जिसके गुण सामर्थ्य और स्वरूप का अन्त कोई भी नहीं ले सकता (अनादि) सबका आदि कारण, जिससे आदि प्रथम वस्तु कोई नहीं है, जिसका कारण कोई नहीं है (विश्वकृत्) जो सब विश्व को करता है (अजम्) जिसका माता-पिता और जन्म कोई नहीं है (सत्यम्) जो सत्यस्वरूप, अविनाशी, सत्यप्रिय, सत्यकारक, भक्तों को सुख देने वाला है। (परम्) सबसे उत्तम और सब दुःखों से परे है (शाश्वतम्) जो सबमें व्यापक सब दिन निर्विकार सनातन है (विद्या यस्येति) जिसकी सनातन विद्या विरुद्धधर्म के नाश करने वाली, निगम वेद को धारण करने वाली किं वा जो वेद को धारण और उत्पन्न करने वाली है, नित्यस्वरूप विद्या जिसकी है, जिस विद्या का नाम वेद है, जिसमें मल, दोष लेश मात्र नहीं है, सब जगत् के हित करने वाली, सब मनुष्यों को सौभाग्य प्राप्ति कराने वाली जिसकी अनन्त विद्या है, उस ब्रह्म परमात्मा को आत्मा, मन, शरीर और धन आदि से अत्यन्त प्रेमभाव, सत्यक्रिया से नमस्कार करके अत्यन्त प्रेमभाव से उसका आश्रय लेके वेदभाष्य का मैं आरम्भ करता हूँ ॥१॥}

वेदभाष्य का रचनाकाल

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।

प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥२॥

(कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ [२० अगस्त १८७६] भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है॥२॥

वेदभाष्य के रचयिता

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,

सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा।

इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽ-

स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः॥३॥

(दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है, उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है, अनघाः हे निष्पाप सज्जन लोगो! आप इस बात को जानो॥३॥

वेदभाष्य का बनाने का उद्देश्य

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।

ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते॥४॥

(मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से [सत्य अर्थ को सत्य रूप में समझते हुए] सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूँ॥४॥

{एक हस्तलिखित प्रति में यह अर्थ लिखा है—सब मनुष्यों के हित के लिये सत्य शास्त्र, प्रमाण और युक्ति से सत्यार्थयुक्त, ईश्वर के अनुग्रह से यह वेदभाष्य अच्छे प्रकार विस्तृत किया जाता है॥४॥}

वेदभाष्य की भाषा

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।

मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ्मया॥५॥

Pustakam

(संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। इन दोनों भाषाओं में [कामनाओं का दोहन करने वाले] वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ॥५॥

{एक हस्तलिखित प्रति में यह अर्थ लिखा है—एक संस्कृतभाषा और दूसरी प्राकृतभाषा से युक्त शुभ कल्याण सुखकारक लक्षणसहित इस भाष्य में मन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ, सो यह भाष्य सुख कामना को पूर्ण करने वाला है॥५॥}

वेदभाष्य की व्याख्यापद्धति

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।

तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥६॥

(आर्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेके व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं, उनकी जो व्याख्यारीति है, उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायेगा॥६॥

{एक हस्तलिखित प्रति में यह अर्थ लिखा है— (आर्याणाम्) जो आर्य अनुत्तमगुणयुक्त, आर्यावर्त देशवासी, परमविद्वान्, आप्त, सत्यवादी मुनि और ऋषि उनकी सनातन जो व्याख्यारीति है, उसके अनुसार उसके वचन प्रमाणों के लेख का आशयपूर्वक वेदमन्त्रों के अर्थों का विधान इस भाष्य में मैं करूँगा, अन्यथा नहीं॥६॥}

येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।

दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः॥७॥

(येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो-जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे, उनकी निवृत्ति करने से वेदों का सत्यार्थराज्य संसार में प्रकाशित होगा॥७॥

सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।

ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्॥८॥

(सत्यार्थश्च०) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूँ, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो, यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है॥८॥

{एक हस्तलिखित प्रति में यह अर्थ लिखा है—इस भाष्य से वेदों का जो ईश्वराभिप्रेत और ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा जो सनातन सत्य अर्थ है सो यथावत् सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित होय। इस इच्छा को स्वीकार अपने आत्मा में करके मैंने वेदभाष्य का आरम्भ किया है, सो यह जो मेरा प्रयत्न है, सो ईश्वर के सहाय से सिद्ध हो क्योंकि यह बड़ा महान् कृत्य है, इसको स्वबल से सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है, परन्तु सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपाबल से यह कार्य सिद्ध होना कुछ भी कठिन नहीं, सर्वान्तर्यामी सब मनुष्यों की आत्माओं को भी कृपा से इस इस भाष्य में प्रीति और सहायकरणयुक्त करे, जिससे इस भाष्य को करने का प्रयोजन जो सब मनुष्यों को सत्य सुख का होना सो यथावत् सिद्ध हो। मेरी इस प्रार्थना को सर्वथा परमेश्वर स्वीकार करे, यही मेरी जगत्स्वामी परमेश्वर से प्रार्थना है, इसको सर्वात्मा सर्वाध्यक्ष अवश्य सिद्ध करेगा॥८॥}

वेदभाष्य की निर्विघ्नसमाप्ति के लिये प्रार्थना

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॒नि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व॥१॥

—(यजु.३०.३)

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे परमकारुणिक! हे अनन्तविद्य! हे विद्याविज्ञानप्रद! (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक! हे सर्वानन्दप्रद! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक! (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (परा सुव) दूरे गमय, (यद्भद्रम्) यत्कल्याणं

सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयस्सुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आ सुव) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय।

हे सत्यस्वरूप! हे विज्ञानमय! हे सदानन्दस्वरूप! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त! हे परमकृपालो! हे अनन्तविद्यामय! हे विज्ञानविद्याप्रद! (देव) हे परमेश्वर! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो तथा सब आनन्दों के देनेवाले हो, (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन्! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हो, (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं, उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दीजिये, अर्थात् हम से उन को और हमको उनसे सदा दूर रखिये, (यद्भद्रम्) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये। **सो सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्तिराज्य इष्ट, मित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं,** (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन्! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत्। अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्योऽम्॥१॥

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो। इस अनुष्ठान में हमारे शरीरों

में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे। इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हमको दीजिये, जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं, उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें। सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण होके सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला हो, और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धा सहित अत्यन्त उत्साह हो, जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न हो सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो, इसी प्रकार से आप हमारे और जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें, जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें॥१॥

ईश्वरस्तुति

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥१॥ (अथर्व०१०.८.१)

(यो भूतं भव्यं च) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति। (स्वर्यस्य च केवलम्) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः॥१॥

(यो भूतम्) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है, (सर्वं यश्चाधिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, (स्वर्यस्य च केवलम्) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और

व्यवहार सुख का भी देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है, उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो॥१॥

यस्य॒ भूमिः॑ प्र॒मान्तरि॑क्षमु॒तोद॑रम्।
दिव॑ं यश्च॒क्रे मू॒र्द्धान॑ं तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑॥२॥

—(अथर्व०१०.७.३२)

(यस्य भूमिः प्रमा) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थविज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षम् उत उदरम्) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, [दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्] यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ।

(यस्य भूमिः प्रमा) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रच के उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है, (तस्मै) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो।

यस्य॒ सूर्य॑श्चक्षु॑श्च॒न्द्रमा॑श्च॒ पुन॑र्णवः।
अ॒ग्निं यश्च॒क्र आ॒स्यं तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑॥३॥

—(अथर्व०१०.७.३३)

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, [अग्निं यश्चक्र आस्यम्] योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै [ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः]।

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये-नये रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो।

यस्य॒ वातः॑ प्राणापा॒नौ चक्षु॒रङ्गि॒॑रसोऽभ॑वन्।
दिशो॒ यश्च॒क्रे प्र॒ज्ञानी॒स्तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑॥ ४॥

—(अथर्व०१०.७.३४)

(यस्य वातः प्राणापानौ) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना इति' [निरु०३.१७] प्रकाशकाः किरणाः [चक्षुः अभवन्] चक्षुषी इव भवतः, [दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः] यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु।

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं, वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है।

(दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों की सिद्धि करने वाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो।

ईश्वर से निर्विघ्न वेदभाष्य पूर्ण करने की प्रार्थना

यऽ आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वेऽ उ॒पास॑ते॒ प्र॒शिष॒ं यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ छा॒याऽमृ॑तं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ५॥

—(यजु०२५.१३)

(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रिय-प्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य विश्वे उपासते प्रशिषं यस्य देवाः) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्य छायाऽमृतम्) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्याच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेति'। [श०ब्रा०७.३.१.२०] **सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि।**

(य आत्मदाः) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देनेवाला है, [बलदाः] जो शरीर, इन्द्रिय, प्राण, आत्मा और मन की पुष्टि, उत्साह, पराक्रम और दृढ़ता का देनेवाला है (यस्य विश्वे उपासते प्रशिषं यस्य देवाः) जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है, उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, (यस्य छायाऽमृतम्) जिसका आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है और जिसकी अकृपा ही जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है, अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उनको नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्त्तता है, उस पर ईश्वर की अकृपा होती है, वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है, उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेमभक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें, जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो।

Pustakam

शान्तिपूर्वक वेदभाष्य करने की प्रार्थना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ ६॥ (यजु०३६.१७)

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु। अनुकूलं भवतु नः। येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि। हे भगवन्! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैर्भवान् मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वं जगच्च।

(द्यौः शान्तिः) हे सर्वशक्तिमन् भगवन्! आपकी भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है, यह सब दिन हमको सुखदायक हो तथा जो आकाश में पृथिवी जल औषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है, वे सब सुख देनेवाले हमको सब काल में हों कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन्! इस सब शान्ति से हमको विद्या, बुद्धि, विज्ञान, आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।

शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ ७॥ (यजु०३६.१७, २२)

(यतो यतः समीहसे) हे परमेश्वर! यतो यतो देशात् त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, [ततो नो अभयं कुरु] ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु, यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं

भवेम। [शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः] तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु। एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु, धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः संपादय।

(यतो यतः समीहसे) हे परमेश्वर! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचना और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं (ततो नो अभयं कुरु) उस-उस देश से हमको भय रहित करिये, अर्थात् किसी देश से हम को किञ्चित् भी भय न हो, (शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः) वैसे ही सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं, उनसे भी हम को भयरहित करें तथा हमसे उनको सुख हो और उनको भी हमसे भय न हो तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन सबमें जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ हैं उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों, जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों।

यस्मि॒न्नृच॒ः साम॒ यजूं॑ष्यृषि॒ यस्मि॒न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः।

यस्मि॑ँश्चि॒त्तꣳ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जाना॒ं तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑ङ्कल्पमस्तु॥८॥

—(यजु॰३४.५)

(यस्मिन्नृचः साम यजूंषि) हे भगवन् कृपानिधे! यस्मिन्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, [यस्मिन् प्रतिष्ठिता] यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति, (यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोतमस्ति। कस्यां क इव? [रथनाभाविवाराः] रथनाभौ अरा इव। [तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु] तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत।

(यस्मिन्नृचः) हे भगवन् कृपानिधे! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूँषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी, ये सब जिसमें

स्थित होते हैं तथा (यस्मिन् प्रतिष्ठिता) जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्) जिसमें सब प्रजा का चित्त, जो स्मरण करने की वृत्ति है, सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं, और (रथनाभाविवाराः) जैसे रथ के पहिये के बीच भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं, (तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) ऐसा जो मेरा मन है सो आपकी कृपा से शुद्ध हो तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो। जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित्! मदुपरि कृपां विधेहि, यया निर्विघ्नेन वेदार्थ-भाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि। यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम। ईदृशीं करुणामस्माकमुपरि करोतु भवान्। यत इदं सर्वोपकारकं कार्यं सिद्धं भवेत्।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर! हम पर आप कृपा धारण करें, जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें, और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को संपूर्ण बना के आपके बनाए वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है, उसको जगत् में सदा के लिये बढ़ावें, और इस भाष्य को देख के वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों। इसलिये हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आपकी कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सबका उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

Pustakam

(२) अथ वेदोत्पत्तिविषयः

परमात्मा से वेदोत्पत्ति में वेद का प्रमाण

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ॥१॥ (यजु०३१.७)

(तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः) तस्मात् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दाँसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः। यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः। जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्। तथा [तस्मात्] तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्। वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्। 'यज्ञो वै विष्णुः' [श०ब्रा०१.१.२.१३] **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।'** [यजु० ५.१५] **इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः।**

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है, कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देनेवाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों के उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्ववेद भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें। 'जज्ञिरे' और 'अजायत' इन

दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त है, ऐसा जाना जाता है। वैसे ही 'तस्मात्' इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं। फिर 'छन्दांसि' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का और विष्णु शब्द सर्वव्यापक जो परमेश्वर है, उसीका ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं।

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्ष॒न् यजु॒र्यस्मा॑द॒पाक॑षन्।

साम॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म्। स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥ २॥ (अथर्व०१०.७.२०)

(यस्मादृचः) यस्मात् सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति, [यस्मात्] यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः (अपाकषन्) प्रादुर्भूतोऽस्ति, तथैव यस्मात् (सामानि) सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः, एवमेव [यस्य आङ्गिरसो मुखम्] यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि [लोमानि] लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः [कतमः स्विदेव सः ब्रूहि] स कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः? अस्योत्तरम् —(स्कम्भं तम्) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति, तस्मात् स्कम्भात् सर्वाधारात् परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम्।

(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए

हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौन-सा देव है, उसको तुम मुझसे कहो? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—(स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है उसका नाम 'स्कम्भ' है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो, और यह भी जानो कि उसको छोड़ के मनुष्यों के उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे।

परमात्मा से वेदोत्पत्ति में ब्राह्मणग्रन्थ का प्रमाण

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥३॥ (श०ब्रा.१४.५.४.१०)

अस्यायमभिप्रायः। याज्ञवल्क्योऽभिवदति—हे मैत्रेयि! महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितम्) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः॥३॥

(एवं वा अरेऽस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है, और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजांकुरवत्। जैसे बीज में अंकुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज

के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है, इससे इनको नित्य ही जानना॥ ३॥

निराकार परमात्मा से शब्दरूप वेद की उत्पत्ति

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात् परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्यतेति?

इस विषय में कितने पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार है, उससे शब्द रूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

अत्र ब्रूमः। न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्क्येयमुपपद्यते। कुतः? मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्।

इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य है कि मुख के बिना मुख का काम और प्राणादि के बिना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्यवाले हैं।

अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्य्यं कर्त्तुं गृह्णाति। यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यं नास्ति; न चैवमीश्वरे। यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तया वेदरचने का शङ्कास्ति? कुतः, वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः।

और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं। तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्यवाला है सो किसी कार्य के

करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय के कोई काम नहीं कर सकते वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता?

शास्त्रों के समान वेद की उत्पत्ति मनुष्य द्वारा असम्भव

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत् स्यादिति?

प्रश्न—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनान्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा। नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा—कस्यचित्सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात् तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्याद्यावत्तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति। तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा?

उत्तर—नहीं, किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढ़ने के पश्चात् (ही) ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है। उसके पढ़ने और ज्ञान के

विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुन के और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रख के उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपन का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान से वेदोत्पत्ति सम्भव नहीं

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति, तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव, पुनः किमर्थं मन्यन्ते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति?

प्रश्न—[वेद ईश्वरकृत हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिये। इसका कारण यह है कि] ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्यापुस्तकों को भी रच लेंगे, पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी?

एवं प्राप्ते वदामहे—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति? तस्मात् किमागतम्? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो

भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति।

उत्तर—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढ़ने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थविद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है।

किञ्च, न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत् तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव, पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्। मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च।

क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता? क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है। और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है।

यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्। चक्षुर्वत्। यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति। तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आँख से कुछ भी नहीं देख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है, तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदों के प्रकाश में ईश्वर का प्रयोजन

वेदोत्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम्?

प्रश्न—वेदों को उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन था?

उच्यते—वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद् वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत।

उत्तर—मैं तुमसे पूछता हूँ कि वेदों को उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उसकी हम पर परमकृपा है। जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन सो आप लोग सुनें।

ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा? अस्ति। सा किमर्थास्ति? स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम्? करोति तेन किम्? तेनेदमस्ति, विद्या स्वार्था परार्था

च भवति तस्यास्तद्विषयत्वात्।

प्रश्न—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं।

उत्तर—है।

प्रश्न—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है?

उत्तर—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है।

प्रश्न—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं?

उत्तर—ईश्वर परोपकारी है। इससे क्या आया? इससे यह बात आती है कि जो विद्या है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना।

यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात् तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता संपादिता।

जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है उसका नहीं रहे। इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध की है।

परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्ततिं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परा मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्।

परमेश्वर हम लोगों का माता-पिता के समान है, हम सब लोग उसकी प्रजा हैं, उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है। जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है, इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न

करता तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता।

यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कन्दमूलफलतृणादिकं रचितं, स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत्? किञ्च ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावत् विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्ति निश्चयः।

जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं सो ही ईश्वर सब सुखों का प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति में जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारहमें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ जो वेद है, उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता? इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

साधनों के विना ईश्वर ने वेद की रचना की

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि?

प्रश्न—वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी, स्याही और दवात आदि साधन कहाँ से लिये, क्योंकि उस समय में कागज आदि पदार्थ तो बने ही न थे?

अत्रोच्यते—अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता, विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्री- साधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि रचिताः, सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्किः। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः।

उत्तर—वाह वाह जी! आपने बड़ी शङ्का करी, आपकी बुद्धि की क्या स्तुति

करें? अच्छा मैं आपसे पूछता हूँ कि हाथ-पग आदि अङ्गों से विना तथा काष्ठ, लोह आदि सामग्री साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने सब जगत् को रचा है, वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उसमें आपको करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि के आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे।

वेदज्ञान देने की विधि और उसको प्राप्त करने वाले ऋषि

किं तर्हि? ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्।

प्रश्न—तो किस प्रकार से किये थे?

उत्तर—ज्ञान के बीच में।

प्रश्न—किनके ज्ञान के बीच में?

उत्तर—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के।

ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति? मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्। कुतः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति। तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति मञ्चा क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति। अत्र प्रमाणम् —तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेरृग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। (श०ब्रा०११.५.२.३) **एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः।**

प्रश्न—वे तो जड़ पदार्थ हैं?

उत्तर—ऐसा मत कहो, वे सृष्टि के आदि में मनुष्यदेहधारी हुए थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है, और जहाँ-जहाँ [अर्थ] असम्भव होता है, वहाँ-वहाँ लक्षणा होती है। जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि 'खेतों में

मञ्चान पुकारते हैं' इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मञ्चान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं, इसी प्रकार से यहाँ भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इसमें 'तेभ्यः०' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था।

सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते?

प्रश्न—सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा?

मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम्? वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित् तैश्च? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति? निश्चयकरणार्था।

उत्तर—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं, क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था?

उत्तर—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था।

प्रश्न—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उनका?

उत्तर—वह ज्ञान ईश्वर का ही है।

प्रश्न—फिर आपसे मैं पूछता हूँ कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उनके?

उत्तर—जिसका ज्ञान है उसीने वेदों को बनाया।

प्रश्न—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शङ्का आपने क्यों की थी?

उत्तर—निश्चय करने और कराने के लिये।

चार ऋषियों को वेदज्ञान दिये जाने का कारण

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती? न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति?

प्रश्न—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती?

उत्तर—न्यायकारी।

प्रश्न—जब परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया, क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है?

अत्राह—अनेनेश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति, किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ्न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम् — तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्त्तुं योग्योऽस्ति।

उत्तर—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश भी कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे, उसको वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया।

जीव, कर्म और जगत् ये तीन अनादि

किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम्? अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवा स्वरूपतोऽनादयस्तेषां कर्म्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। तेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते।

प्रश्न—वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनका पूर्वपुण्य कहाँ से आया?

उत्तर—जीव, जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत् ये तीनों अनादि हैं, जीव और कारणजगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं।

इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे की जायेगी।

वेदमन्त्रों के छन्दों का रचयिता भी ईश्वर

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम्? इयं कुतः शङ्काभूत्? किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति? अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात्। अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति।

प्रश्न—क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है?

उत्तर—यह शङ्का आपको कहाँ से हुई?

प्रश्न—मैं तुमसे पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है?

उत्तर—ईश्वर को सब ज्ञान है। अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है?

ब्रह्मा को वेदरचयिता बनाने वाला आख्यान मिथ्या

चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम्? मैवं वाच्यम्। ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात्। 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्या०सू०२.२.७) **अस्यैवोपरि 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात् करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः'** (न्या०सू०१.१.७) **इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्।**

प्रश्न—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं।

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है।

(आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है, उसको शब्दप्रमाण में गिनते हैं, ऐसा न्यायदर्शन में गौतमाचार्य ने लिखा है, तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है, अन्य नहीं। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है कि—जो साक्षात् सब पदार्थविद्याओं का जाननेवाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है, उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करनेवाला है, और जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों का यथावत् साक्षात् करना और उसीके अनुसार वर्त्तना इसी का नाम 'आप्ति' है, इस आप्ति से जो युक्त हो, उसको 'आप्त' कहते हैं।' उसीके उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है, वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता।

व्यास को वेद का संग्रहकर्त्ता बताने वाला आख्यान मिथ्या

एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्। नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थापत्तेश्चेति।

इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है, इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये। जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्रग्रन्थ हैं, इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं, क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं। और जो सत्यग्रन्थ शतपथ-ब्राह्मणादि हैं, उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

मन्त्र और सूक्तों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रकृत् नहीं

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात्?

प्रश्न—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाए?

मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य (अष्टा०६.१८) **विद्यमानत्वात्।**

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि—'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का उपदेश किया है, उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं।'

एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत् तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्। तद्यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥१॥ (मनु०१.२३)

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः॥२॥ (मनु०२.१५१)

इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रेऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा!

इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी ब्रह्मादि के समीप वेद वर्तमान थे। इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि—'पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था।' जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है!

Pustakam

संहिताओं के वेद और श्रुति नामकरण में प्रयोजन

कथं वेद श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति?

प्रश्न—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

अर्थवशात्। विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे, एतेभ्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा श्रु श्रवणे, इत्यस्माद्धातोः करणकारके 'क्तिन्' प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पाद्यते। विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते 'वेदाः'।

उत्तर—अर्थभेद से। क्योंकि एक 'विद' धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा 'विद' सत्तार्थ है, तीसरे 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथे 'विद' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है।

तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः'। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात्कदाचित्कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः? निरवयवेश्वरात् तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता। वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्। तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धम्? अग्निवायुरव्यङ्गिरो मनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण

श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है। क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनानेवाले को साक्षात् कभी नहीं देखा, इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, और उनको सुनते-सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं। तथा अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं।

वेदोत्पत्तिकाल

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि?

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये हैं?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोट्योऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि। सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तत इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति।

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है, [ऐसा जानना चाहिये। इतना ही समय वर्तमान कल्पसृष्टि का है।]

वेदोत्पत्ति और सृष्टि के काल का परिगणन

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानि?

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

अत्राह—अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वादस्मात्पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा—स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त चैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति।

उत्तर—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। १.स्वायम्भव, २.स्वारोचिष, ३.औत्तमि, ४.तामस, ५.रैवत, ६.चाक्षुष ये छः तो बीत गये हैं और ७ सातवाँ वैवस्वत वर्त्त रहा है, और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्वन्तर होते हैं।

तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन् ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन् ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते। तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततिमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति।

और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है, सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार, वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है। (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बाँधी है।

और इन चारों युगों के (४३२०००) तियालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है।

एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२०००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिल कर अर्थात् (१८४०३२०००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नव सौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवाँ हैं, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवाँ संवत् कहते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार कालपरिगणन

अत्र विषये प्रमाणम् —

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ १॥ मनु०१।६८

[ब्रह्मा के दिन-रात का और चारों (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) युगों का जो परिमाण है, उसे आप लोग संक्षेप में क्रमशः सुनें।]

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।

तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ २॥ मनु०१।६९

[चार हजार वर्ष सत्ययुग का कालपरिमाण कहा है और उतना ही सत्ययुग के संध्या और संध्याश का परिमाण है अर्थात् तीनों को मिलाकर १२००० वर्ष का

परिमाण है।]

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।

एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ३॥ मनु०१।७०

[सत्ययुग की सन्धि और संध्यांश के सहित सत्ययुग के कालपरिमाण में से १०००-१००० तथा सन्ध्या और सन्ध्यांश में से १००-१०० वर्ष प्रत्येक में कम करने से त्रेता, द्वापर और कलियुग का कालपरिमाण होता है।]

यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।

एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ४॥ मनु०१।७१

[जो यह मनुष्यों के चार युगों का कालपरिमाण (१२०००) बतलाया गया है, वह १२००० चारों युगों का सम्मिलित काल देवों का एक युग होता है।]

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ ५॥ मनु०१।७२

[देवों के एक सहस्र युग ब्रह्मा के एक दिन के बराबर हैं और उतना ही काल रात का भी जानना चाहिये।]

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ६॥ मनु०१।७३

[देवों के १००० युग के बराबर ब्रह्मा का पुण्य दिन और उतने ही परिमाण का ब्रह्मा की रात्रि होती है। उसे जो लोग जानते हैं, वे अहोरात्र के ज्ञाता कहे जाते हैं।]

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।

तदेकसप्ततिर्गुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ ७॥ मनु०१।७९

[जो पहले (मनु०१.७१) १२००० वर्षों के बराबर 'देवों का एक युग' कहा गया

है, उसके इकहत्तर गुना कालपरिमाण को इस शास्त्र में 'मन्वन्तर' कहा गया है।]

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः संहार एव च।

क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥८॥ मनु०१।८०

[मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय ये सभी असंख्य हैं। ब्रह्मा क्रीडा करते हुए इस संसार की बार-बार सृष्टि करते हैं।]

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते।

ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की है, इसलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं, सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की 'दैवयुग' संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती, अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होगी। सो उस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान और प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बाँधी है। और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रति मन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर संज्ञा बाँधी है। वर्त्तमान सृष्टि की कल्पसंज्ञा और प्रलय की विकल्पसंज्ञा की है।

कालगणना

अत्रैवं सङ्ख्यातव्यम् —

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा।

लक्षं च नियुतं चैव कोटिर्बुदमेव च॥१॥

वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः।

अन्त्यं मध्यं परार्द्ध्यं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥ २॥

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु सङ्ख्यायते। अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एकं दशशतं चैव०) एक (१), दश (१०), हजार (१०००), दश हजार (१००००), लाख (१००००००), अयुत (१०००००), करोड़ (१००००००), अर्बुद (१०००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर (१००००००००००००००), अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००), और परार्द्ध्य (१०००००००००००००००००) और दश-दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है।

सहस्रसंज्ञा

'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि॥' (यजु०१५.६५) 'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि॥' (श०ब्रा०७.५.२.१३) सर्वस्य जगतः सर्वमिति नामास्ति। कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति। मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात् सर्वमभिवदतीति। एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम्।

(सहस्रस्यप्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्रसंज्ञा ली जाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप इस हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार कालगणना

ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य

गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यन्तमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्यते ज्ञायते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति; नान्येति निश्चयः।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है, सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य लोग नित्यप्रति 'ओं तत्सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं, और बहीखाते की नाईं लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं, इसीलिये यह लेख है—(श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)

कालगणना की भारतीय परम्परा

कुतो ह्यार्यैर्नित्यम् 'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहारार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहुर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च' इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वादितिहासस्यास्य सर्वत्रार्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात् सर्वत्रैकरसत्वाद् अशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम्। अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम्।

यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है, इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवाँ कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और

करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष, षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है, इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्ध पर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिती डालते हैं, वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते-घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं। और यही इतिहास आज पर्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है। और सब पुस्तकों में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक-ठीक आर्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है। और यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग ही बड़े-बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

विधर्मियों के द्वारा विद्यापुस्तकों का नाश

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे तब आर्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया, और जो पुस्तक ज्योतिषशास्त्र के बच गये हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं इनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है, इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता। यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सब को विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो, सो यह बड़ा उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रक्खा है, यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तकव्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया,

यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट-बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहाँ देख लेना चाहिये। यहाँ इसका प्रसङ्ग नहीं है, इसलिये नहीं लिखा।

विलसनादि के वेदविषयक विचार भ्रान्तिमूलक

एतावता कथननैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च।

इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि— वेद मनुष्य के रचे हैं, किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है, और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प पठनविद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं, उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जिन-जिन ने अपनी-अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन-उन का भी व्याख्यान मिथ्या है। क्योंकि जैसा प्रथम लिख आये हैं जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी, तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।

॥ इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥

(३) वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वर से उत्पन्न होने से वेद नित्य

ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्।

अब वेदों के नित्य होने का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

वेद के शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य

अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम्।

प्रश्न—इस विषय में कितने पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने के घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहिले नहीं थे और प्रलय के अन्त में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है।

मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्याश्च। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

उत्तर—ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं, क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि हैं, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही

हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक कल्प में वेद यथावत्

किं च भोः! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात् कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते?

प्रश्न—जब सब जगत् के परमाणु अलग-अलग होके कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है, उसका अभाव हो जाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो?

अत्रोच्यते—इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे च, नेतरस्मिन्। अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे।

उत्तर—यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती, क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही है; मसी, कागज, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं है। यह जो मसीलेखनादि क्रिया है, सो मनुष्यों की बनाई है। इससे यह अनित्य है। और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं।

किं च, न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते। तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात्।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं। सृष्टि के आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है, प्रलय जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप बने रहते हैं।

यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च। कुतः, ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचाराच्च। अत एवेदमु-

क्तमृग्वेदे— 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' [ऋ०१०.१९०.३] **इति। अस्यायमर्थः—सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत् तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते। कुतः? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्। एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्।**

जैसे कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं, इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उनके अक्षर का भी विपरीतभाव नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है, इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये।

व्याकरण के अनुसार शब्दनित्य होने से वेदनित्य

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलमुनिः—'नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति।'

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है, इसमें व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इसमें से जो व्याकरणशास्त्र है, सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनानेवाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उनका ऐसा मत है कि—'सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं, वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता।'

इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति। तथा—

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।'

[यह वचन प्रथम आह्निक से आरम्भ होकर महाभाष्य में अनेक स्थलों पर आया है।] तथा 'कान से सुनके जिनका ग्रहण होता है, बुद्धि से जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है, उनको शब्द कहते हैं।'

इदम् 'अइउण्' सूत्रभाष्ये चोक्तमिति। अस्यायमर्थः—वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः? शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्, उपजन आगमः, विकार आदेशः, एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः।

[यह 'अइउण्' सूत्र के भाष्य पर कहा है। इसका अर्थ है—] इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं, वे भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इनमें लोप आगम और विकार नहीं बन सकते, इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

व्याकरण के लोप, आगम, विकारादि से नित्यत्व का विघात नहीं

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं सङ्गच्छते? इत्येवं ब्रूते महाभाष्यकारः—

प्रश्न—गणपाठ, अष्टाध्यायी और महाभाष्य से अक्षरों के लोप, आगम और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ (महा०भा०१.१.५)

'दाधा घ्वदाप्' (अष्टा०१.१.१९) **इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः—सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा—'वेदपार, गम्, ड, सुँ, भू, शप्, तिप्, इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने 'वेदपारगोऽभवत्' इतीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन् प्रयुक्तसमुदाये 'गम् ड सुँ शप् तिप्' इत्येतेषाम् 'अम् ड् उँ श प् इ प्' इत्येतेऽपयन्तीति केषाञ्चिद् बुद्धिर्भवति, सा भ्रममूलैवास्ति। कुतः? शब्दानाम् 'एकदेशविकारे च' इत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः। तथैवाडागमे भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं सङ्गतिः कार्येति।**

शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे 'वेदपार, गम्, ड, सुँ, भू, शप्, तिप्, इस पदसमुदाय के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि 'अम् ड् उँ-श प् इ प्' इनकी निवृत्ति हो जाती है, सो उसकी बुद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये हैं; सो मत इस प्रकार से है कि शब्द नित्य ही होते हैं, क्योंकि—

आकाश का गुण होने से शब्दनित्य

(श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते, स शब्दो भवतीति बोध्यम्। अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते। कथम्?

उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात्। 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' इति महाभाष्यप्रामाण्यात्। प्रतिवर्णं वाक्क्रिया विपरिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति।

जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है, उसके क्षणभङ्गुर होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्ण-वर्ण के प्रति अन्य-अन्य होती जाती है, [इसलिये वही अनित्य सिद्ध होती है]। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः! शब्दोऽप्युपरतागतो भवति। उच्चारित उपागच्छति, अनुच्चरितोऽनागतो भवति, वाक्क्रियावत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्?

प्रश्न—शब्द भी उच्चारण किये के पश्चात् नष्ट हो जाता है और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारण क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनित्य हो सकता है। फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो?

अत्रोच्यते—नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति, किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाभिव्यक्तिश्च। तद्यथा—गौरित्यत्र यावद्वाग्गकारेऽस्ति न तावदौकारे, न यावदौकारे, न तावद्विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्यापायोपजनौ भवतः; न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे न भवतः अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानामिति।

उत्तर—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, पर जब उच्चारणक्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारण क्रिया गकार में रहती है, तब पर्यन्त औकार में नहीं,

जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् और इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही है। जब व्याकरणशास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य बने रहते हैं।

मीमांसा दर्शन के मत में वेदनित्यत्व

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् —'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्॥' (पूर्वमीमांसा १.१.१८)

अस्यायमर्थः—'तु' शब्देनानित्यशङ्का निवार्यते। विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्मात् दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति। अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्य-भिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्योऽस्ति। नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्य-मानत्वात् सर्वमेतत् सङ्गतं स्यात्। अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते। पुनः पुनस्तमेव चेति। एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः।

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है—(नित्यस्तु०) शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है, उसका 'तु' शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं, अर्थात् नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है सो अर्थ के जानने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है, फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द

Pustakam

अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता, क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य है। जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती, सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

वैशेषिक दर्शन के मत में वेदनित्यत्व

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह—

‘तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्॥’ (वै०सू०१.१.३)

अस्यायमर्थः—तद्वचनात् तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनाद् ईश्वरेणेवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्।

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है—(तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त है, इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है, इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है, क्योंकि ईश्वर नित्य है, इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

न्यायदर्शन के मत में वेदनित्यत्व

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—

‘मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यत्वात्॥’

—(न्या०सू०२.१. ६७)

अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यनामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम्। कुतः? आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादिदोषरहितैर्दयालुभिः

सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः। किंवत्? मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्। यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, (मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये। क्योंकि 'आप्त' लोग वे ही होते हैं जो धर्मात्मा, कपट-छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जिन्होंने आयुर्वेद को बनाया है। जैसे आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एकदेश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एकदेश के कहे के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वेद के एकदेश में कहे अर्थ का सत्यापन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् —

'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति। नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम्।'

अस्यायमभिप्रायः—यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्यत्वेनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्। अत ईश्वरविद्यामयत्वाद् वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक्।

(मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग हैं, वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनानेवाले हैं। जो-जो उस-उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के बनाने वाले हैं। जैसे उनका कथन आयुर्वेद में सत्य है, वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सबका गुरु परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

योगदर्शन के मत में वेदनित्यत्व

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह—

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' (यो०सू०१.२६)

यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनाम् इदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स 'गुरुः'। स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्य इति।

इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के

आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सबका गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति प्रचार ही नहीं है, और यह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उसकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान और सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

सांख्यदर्शन के मत में वेदनित्यत्व

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्यये कपिलाचार्योऽप्यत्राह—

'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥' (सां०सू०५.५१)

अस्यायमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात् स्वतः प्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्ये इति।

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं—(निज०) परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्याशक्ति है, उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

वेदान्तदर्शन के मत में वेदनित्यत्व

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—

'शास्त्रयोनित्वात्॥' (वे०सू०१.१.३)

अस्यायमर्थः—'ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादिपाणिन्यादे-

ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके किमु वक्तव्यमिति।'

इदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतं सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति।'

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है, (शास्त्र०) इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानके व्याख्यान किया है कि—'ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं, उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है, उसमें विद्या के एक-एक देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद है, उसको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों को पढ़ने, विचारने और उसीके अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं।' ऐसा शङ्कराचार्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य लोगों की साक्षी है। और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है, उसके किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं। अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता।

वेदान्तदर्शन में वेदनित्यत्व में अन्य प्रमाण

अन्यच्च तस्मिन्नेवाध्याये—

'अत एव च नित्यत्वम्॥' (वे०सू०१.३.२८)

अस्यायमर्थः—अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्। न वेदज्ञस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत् प्रमाणं स्वीक्रियते। किन्त्वेतत् साक्षिवद्विज्ञेयम्। वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात्, सूर्यवत्। यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थान् महतोऽल्पाँश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान् प्रकाशयति तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम्।

(अत एव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य हैं, और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है। तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाण को साक्षी के समान मानना चाहिये, क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयम्प्रकाश है और सब सत्यविद्याओं का प्रकाश कर रहे हैं।

नित्यता के सम्बन्ध में वेद का प्रमाण

अत एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु॰४०.८)

अस्यायमभिप्रायः—यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्तं ईश्वरोऽस्ति, (स पर्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् प्राप्तवानस्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति, (शुक्रम्) तद् ब्रह्म सर्वजगत्कर्त्तृवीर्यवदनन्तबलवदस्ति, (अकायम्) तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणम्) नैवैतस्मिँश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अत एव छेदरहितत्वादक्षतम्,

(अस्नाविरम्) तन्नाडीसम्बन्ध-रहितत्वाद् बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धम्) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्त्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्भवति, (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति, (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चित् जनकः स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्तमानोऽस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा, (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो (याथातथ्यतः) यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थाद् यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतः प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं—(स पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उसके किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो परमेश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है, उसकी व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रम्) सब जगत् का करने वाला और अनन्तविद्यादि बल से युक्त है, (अकायम्) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता, (अव्रणम्) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरम्) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धम्) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी) जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत्

जानता है, (परिभूः) जो सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं है, किन्तु वही सबका कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सबका माता-पिता है, और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान है, उसके सब सुखों के लिये, (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब तक परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब तक प्रजा के हित के लिये सृष्टि के आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब सृष्टि का प्रलय होता है तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये।

युक्ति से भी वेद की नित्यता सिद्ध

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि। तद्यथा— 'नासत आत्मलाभो न सत् आत्महानम् योग्योऽस्ति स भविष्यति' इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम्। कुतः? यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति, वन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत्। पुत्रो भवेच्चेत्तदा वन्ध्यात्वं न सिद्ध्येत्, स नास्ति चेत्पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः। एवमेवात्रापि विचारणीयम्। यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत् कथमुपदिशेत्? स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निर्मूलस्य प्ररोहाभावात्। न ह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद् दृश्यते।

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य है, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि 'असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव को होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। जो सत् है उसीसे आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है, और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती।' इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है। क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उसकी बात

असम्भव है, क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह वन्ध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं? वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या हैं, तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है। और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता, और वह जगत् को भी कैसे रच सकता? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह भी जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है।

यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति सोऽत्र प्रकाश्यते—यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति। तद्यथा—येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति, नाऽन्यस्याः। येन देशभाषाऽधीयते तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यथा। एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणम्? न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोऽपि कस्यचिद्भवितुमर्हति।

इसमें और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी का दृष्टान्त देते हैं—देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है उसीका ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। जो संस्कृत भाषा को पढ़ता है, उसके मन में उसी का संस्कार होता है, अन्य भाषा का नहीं, और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है, उसको देशभाषा का संस्कार होता है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता, जब विद्या का संस्कार नहीं होता तो इसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से बिना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी नहीं हो सकता। इस युक्ति से जाना जाता है कि ईश्वर उपदेश से वेदों

को सुन पढ़ और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है, अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

विद्या और ज्ञान का मूलस्रोत ईश्वर

किं च भोः! मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले, क्रमानुक्रमाद् विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद् वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति?

प्रश्न—मनुष्यों का स्वभाव से जो चेष्टा है, उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है, उससे **उत्तर**—उत्तर काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे, फिर ईश्वर ने वेद रचे, ऐसा क्यों मानना?

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एतद् वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्, तत्रैष निर्णयः—यथा नेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमनेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत्, अशिक्षितबाल-कवनस्थवत्। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषा-विज्ञाने अपि भवतः, पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा? तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता, सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्।

उत्तर—इसका समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया। वहाँ यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता और इसी के विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती, वैसे सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। इसमें अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था, कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता, तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता, फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। इससे क्या

जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है, क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं। इससे उसकी विद्या जो वेद है वह भी नित्य ही है।

नित्य परमेश्वर से उत्पन्न वेद भी नित्य

यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति। नित्यं चोत्पत्तिविनाशभ्यामितिरद्भवितुमर्हति। उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद् भवति। तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात्। अदर्शनं च विनाशः। ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवि-योगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति।

जो नित्य वस्तु है उसके नाम, गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं, क्योंकि उनका आधार नित्य है। और विना आधार से नाम, गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते, क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है, उसके नाम, गुण और कर्म भी अनित्य ही होते हैं। सो नित्य किसको कहना? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा उत्पत्ति क्या कहाती है? कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग वियोग से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना। और जब वे पृथक्-पृथक् होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उनकी परमाणुरूप अवस्था होती है, उसको विनाश कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं, वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं। फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब विनाश हो जाता है, तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते, इसका नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को ही 'नाश' कहते हैं। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है, उसीको कार्य और अनित्य कहते हैं और जो संयोग और वियोग से अलग है, उसकी न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है। ईश्वर में संयोग-वियोग नहीं होता, क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस

ही बना रहता है। इसीसे उसको 'नित्य' कहते हैं।

नित्य का लक्षण

अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति—सदकारणवन्नित्यम्॥ (वैशेषिके ४.१.१) **अस्यायमर्थः—तत्कार्य्यं कारणादुत्पाद्य विद्यमानं भवति, तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात्। यत्तु कस्यापि कार्य्यं नैव भवति किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति, तन्नित्यं कथ्यते।**

(इसमें कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—(सदकार०) जो किसी का कार्य है कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है, उसको अनित्य कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा होके वह नष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न होके विद्यमान होता है, फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता, किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं।

ईश्वर सूक्ष्म होने से सबका आत्मा

यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति। कर्त्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः कर्त्तास्तीत्यागच्छेत्। एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः। यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात्। यद्यस्मात् सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति, सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत्। यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात् तत्कणान् प्रविश्य सुयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च। तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्त्तुमर्हति, न चान्यथा। यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति। तथेश्वरोऽपि भवेत्।

क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, सो-सो बनानेवाले की अपेक्षा अवश्य रखता है, जैसे कर्म, नियम और कार्य ये सब कर्त्ता, नियन्ता और कारण को ही सदा जनाते हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये कि उस कर्त्ता के कर्त्ता को किसने बनाया है? इसी प्रकार अनवस्था प्रसङ्ग अर्थात् मर्यादा रहित होता है। जिसकी मर्यादा नहीं है, वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया कि जो जिससे सूक्ष्म होता है, वही उसका आत्मा होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है, और जैसे जल पृथिवी में प्रविष्ट होके उसके कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है तथा उसका छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक् सब में व्यापक, प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है, इसी कारण से प्रकृति और परमाणु द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उनसे स्थूल होता तो उसका ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं, वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते। जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है, वह उसके संयोग-वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता।

संयोग-वियोग करने वाला परमेश्वर आदिकारण

अन्यच्च—यतः संयोगवियोगारम्भो भवति तस्मात् पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात्। आदिकारणस्याभावात् संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च। एवं भूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद् वेदानां प्रादुर्भावात् तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम्।

तथा जिस वस्तु से संयोग-वियोग का आरम्भ होता है, वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग होता है, क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ के नियमों का

कर्त्ता और आदिकारण होता है, तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकारस्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्तविद्या वाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्त्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया है।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

Pustakam

(४) अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्।

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है। वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—(१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना, (४) चौथा ज्ञान है।

प्रथम : विज्ञानविषय

तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।

'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसीमें वेदों का मुख्य तात्पर्य है। सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है।

अत्र प्रमाणानि—

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

—(कठ०२.१५)

तस्य वाचकः प्रणवः। (यो०सू०१.२७)

ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु०४०.१७)

ओमिति ब्रह्म॥ (तै०आ०७.८)

एषामर्थः—(सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति। (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति, वाच्यश्चेश्वरः। (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति, तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति, (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति, (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति। यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च। हे नचिकेतः! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि।

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—(सर्वे वेदा०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त, सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम (ओम्) आदि हैं, उसीमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र, (यजुर्वेद और तैत्तिरीय आरण्यक) का भी प्रमाण है—(तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओम् खं०) तथा (ओमिति०) ओम् और खम् ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं। और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं, तथा (तपांसि) सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप

कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये है, तथा (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसीका उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसीका मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूँ। और यहाँ यह भी जानना उचित है कि अलंकाररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये।

वेदों में दो विद्याएँ : परा और अपरा

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥

—(मुण्ड०१.१.५)

(तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवी-तृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।

(तत्रापरा०) वेदों दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

यत्तददृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ २॥ (मुण्ड०१.१.६)

[जो देखा न जा सके, पकड़ा न जा सके, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसका कोई रंग नहीं है, जिसको आँख और कान आदि ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, जिसे हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों की भी आवश्यकता नहीं हैं, जो सर्वव्यापक और अत्यन्त सूक्ष्म है। उस क्षयरहित नित्य, व्यापक और जगत् के निमित्त कारण ब्रह्म को योगीजन सर्वत्र देखते हैं।]

अपरा विद्या (विज्ञान) का मुख्य प्रतिपाद्य ईश्वर

अन्यच्च—

(१३) तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। (ऋ०१.२२.२०)

अस्यायमर्थः—यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, (परमम्) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत्? (आततम्) आसमन्तात्ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति।

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि—(तद्वि०) विष्णु अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है, उसका (परमम्) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदम्) जो प्राप्त होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है? सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश, काल, वस्तु का भेद नहीं है, अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं,

इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसीकी प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

वेदान्त से भी वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ईश्वर

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह—

तत्तु समन्वयात्॥ (वेदा०१.१.४)

अस्यायमर्थः—तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—(तत्तु समन्वयात्)। सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात् रूप और कहीं-कहीं परम्परा से। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।

यजुर्वेद से भी वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ईश्वर

तथा यजुर्वेदे प्रमाणम् —

तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि—

(१४) यस्मा॒न्न जा॒तः परोंऽअ॒न्योऽअस्ति॒ य आंवि॒वेश॒ भुवंनानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳर॒रा॒णस्त्रीणि॒ ज्योती॑ꣳषि सचते॒ स षोड॒शी॥

—(यजु०८.३६)

एतस्यार्थः—(यस्मात् न) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः

(जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति, (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति, प्रजापालकत्वात्, (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवानस्ति, (सꣳराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतींषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति, कृतवानस्ति, अतः (सः) स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन् यस्य वा तस्मात् स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः।

(यस्मान्न जा०) जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है, (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्त्ता और अध्यक्ष है, जिसने (त्रीणि ज्योतींषि) अग्नि, सूर्य और बिजली इन तीन ज्योतियों को सर्वजगत् के प्रकाश होने के लिये (सचते) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम (षोडशी) है, अर्थात् [१] ईक्षण, जो यथार्थ विचार, [२] प्राण, जो कि सब विश्व का धारण करने वाला, [३] श्रद्धा, सत्य में विश्वास, [४] आकाश, [५] वायु, [६] अग्नि, [७] जल, [८] पृथिवी, [९] इन्द्रिय, [१०] मन अर्थात् ज्ञान, [११] अन्न, [१२] वीर्य, अर्थात् बल और पराक्रम, [१३] तप, अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार, [१४] मन्त्र, अर्थात् वेदविद्या, [१५] कर्म, अर्थात् सब चेष्टा, [१६] नाम, अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको षोडशी कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ (माण्डू०१.१)

अस्यायमर्थः—ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव

सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्। किं च नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्य-तात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति। अतस्तदुपदेश-पुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत् कर्त्तव्यमिति।

[ओम् यह जिसका नाम है, वह अक्षर है। जो कभी भी नष्ट नहीं होता और जो चर और अचर जगत् को व्याप्त किये हुए है, उसे ब्रह्म ही जानना चाहिये।] इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है, और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही की प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

द्वितीय : कर्मकाण्डविषय

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्।

उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है।

कर्मकाण्डद्विविध : निष्काम और सकाम

स चानेकविधोऽस्ति। परं तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः—एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थोऽर्थाद् य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाऽऽज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते।

वह अनेक प्रकार का है परन्तु उनके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार। अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा, उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्त्तन, उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना। उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये। तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है। और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है।

सकाम और निष्काम में भेद

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते। अयं खल्वनन्तसुखेन योगात्। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्।

सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट

के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इसका फल अक्षय है। और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम कहते हैं। इस हेतु इसका फल नाशवान् होता है, क्योंकि सकाम कर्म करके इन्द्रिय-भोगों को प्राप्त होके जन्म-मरण से नहीं छूट सकता।

अग्निहोत्र द्विविध : सकाम और निष्काम

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत् सुखकार्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानक-लाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है—एक सुगन्धगुणयुक्त, जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त, जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त, जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है। और जिसको भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्ता को ही सुख देने वाला होता है।

अग्निहोत्र में द्रव्य, संस्कार और उनका उपयोग

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् —

द्रव्यसंस्कारस्तु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ (मी०सू०४.३.१)

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ (मी०सू०४.३.८)

अनयोरर्थः—द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति, तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति।

इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है—(द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बातें यज्ञ के कर्ता को अवश्य करनी चाहिये। सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि से सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्धद्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है, इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है।

यज्ञ से यज्ञकर्ता और संसार दोनों को सुख

अतश्चोक्तम् —

इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते, यत्रैवं विद्वान् होता भवति॥ (ऐ०ब्रा०१.२.१)

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति।

(यज्ञोऽपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसीके सुख के लिये यज्ञ होता है, और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का अर्थवाद यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य ज्ञात होनी चाहिये। सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्ता को, अन्यथा नहीं।

होम से अन्न

अत्र प्रमाणम् –

अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति॥ (श०ब्रा०५.३.५.१७)

अस्यायमभिप्रायः—अग्नेः सकाशाद्धूमवाष्पौ जायेते। यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान् प्रविश्य तान् संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति, पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्याकाशं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यांशोऽस्ति। अत एवोभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्यते। पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो

भवति। तस्मादभ्रं घना जायन्ते। तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते। ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति।

इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि—(अग्ने०) जो होम करने से द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुंआ और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है, फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं, उनमें जितना जल का अंश है, वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं, फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है।

होम से अन्न, वायु और जल की शुद्धि

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम् —

तस्माद्वा एतस्माद्वा आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ (तै०उ०२.१.१)

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि—(तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं।

स तपोऽतप्यत (स) तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥ (तै०उ०३.२.१)

Pustakam

अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात्। शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति, नातोऽन्यथेति।

यहाँ ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है, क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है। वैसे ही ईश्वर सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को ब्रह्म कहते हैं। जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सबको दुःख होता है। इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।

शुद्धिहेतु द्विविध प्रयत्नः ईश्वरकृत और जीवकृत

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च। स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति। तदा सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्। तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति। तन्मध्यमत्वाद् बलबुद्धिवीर्यपराक्रमधैर्यशौर्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते। कुतः? यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात्। अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति। कुतः?

सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है—एक तो ईश्वर का किया हुआ, और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खेंचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं। उसी जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुण वाले हो जाते हैं और उनके योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी निकृष्ट ही होते हैं, क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। [यह ईश्वर की सृष्टि का दोष नहीं है, कैसे?]

यज्ञ न करने वाला पाप का भागी

दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात्। यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतमिति, यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति, तथा यज्ञः कर्त्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति, तामपि य उल्लङ्घ्यति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति।

यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि से जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है, इसको जो नहीं करता, वह भी पापी होके दुःख का भागी होता है।

पर्यावरणदूषण करने वाले मनुष्य के लिये यज्ञ अवश्य करणीय

कुतः सर्वोपकारकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदाय- निमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्प- द्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्त्तुमर्हन्ति।

क्योंकि सबके उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहाँ जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं, वहाँ उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के

लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के निमित्त से उत्पन्न होता है तो उसका निवारण करना भी उनको हो योग्य है।

मननशील होने से सब मनुष्यों को यज्ञ करणीय

तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद् देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलनामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठाननानुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात् कारणात् सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं, उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं, इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उन्नति होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

यज्ञाग्नि में हुतद्रव्य का विनाश नहीं

किंच भोः! कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति। किं त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति?

प्रश्न—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिलाके अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है, फिर यज्ञ करना किसलिये चाहिये?

अत्रोच्यते—नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति। विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते।

उत्तर—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोगमात्र होता है। परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं?

उत्तर—जो स्थूल होके प्रथम दिखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं।

प्रमाण के प्रकार और उनके लक्षण

परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते? अष्टविधं चेति। किंच तत्? प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-शब्द-ऐतिह्य-अर्थापत्ति-सम्भव-अभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मया मन्यत इति।

प्रश्न—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं?

उत्तर—आठ प्रकार का।

प्रश्न—कौन-कौन सा?

उत्तर—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. ऐतिह्य, ६. अर्थापत्ति, ७. सम्भव, ८. अभाव-इस भेद से आठ प्रकार का दर्शन [=प्रमाण] मानते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

[इस विषय में आचार्य गोतम कहते हैं—]

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ १॥ (न्या०सू०१.१.४)

तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात् सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम्। सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम्॥ १॥

(इन्द्रियार्थ०) इनमें से 'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और, फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है, अन्य नहीं, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं॥ १॥

अनुमान प्रमाण

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च॥ २॥

—(न्या०सू० १.१.५)

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम्। पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम्॥ २॥

(अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह 'अनुमान' कहाता है। जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता-पिता आदि हैं, वा अवश्य थे, इत्यादि उसके उदाहरण हैं॥ २॥

उपमान प्रमाण

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्॥ ३॥ (न्या०सू०१.१.६)

उपमानं सादृश्यज्ञानम्। यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्याद् उपदिशतीत्याद्युदाहरणम्॥ ३॥

(प्रसिद्ध०) तीसरा 'उपमान' कि जिससे किसी का तुल्य धर्म देखके समान धर्मवाले का ज्ञान हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त

है, उसी प्रकार का यह यज्ञदत्त भी है, उसके पास जाके इस काम को कर लो। इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है, उसको उपमान कहते हैं॥३॥

शब्द प्रमाण

आप्तोपदेशः शब्दः॥४॥ (न्या०सू०१.१.७)

शब्द्यते प्रत्यायते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम्॥४॥

(आप्तोप०) चौथा 'शब्द' प्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करने वाला है। जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है, यह आप्तों के उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है॥४॥

ऐतिह्य प्रमाण

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्॥५॥ (न्या०सू०२.२.१)

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानामनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः॥६॥ (न्या०सू०२.२.२)

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्तोऽर्थः क्रियते—

['न चतुष्ट्वम्' इन दो सूत्रों का अर्थ करते हैं—]

(ऐतिह्यम्) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम् —'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादि॥५॥

(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है। जैसा 'देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे' जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। यह पाँचवां प्रमाण है॥५॥

अर्थापत्ति प्रमाण

Pustakam

(अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति। किमत्र प्रसज्यते? असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम्॥ ६॥

और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो, उससे विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे। जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है, दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं॥ ६॥

सम्भव प्रमाण

(सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः। केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम्। परन्तु कश्चिद् ब्रूयात् 'कुम्भकरणस्य कोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका च' असम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम्॥ ७॥

सातवाँ (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता-पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है, तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है। परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि 'रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी, और उसकी नाक (१६) सोलह कोश पर्यन्त लम्बी चौड़ी थी', उसकी यह बात मिथ्या समझी जायगी, क्योंकि ऐसी बात का सम्भव कभी नहीं हो सकता॥ ७॥

अभाव प्रमाण

(अभावः) कोऽपि ब्रूयात् घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्त्तमानस्तस्मादानीयते॥ ८॥

और आठवाँ (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ, और जब उसने वहाँ नहीं पाया, तब वह जहाँ पर घड़ा था, वहां से ले आया॥ ८॥

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः। एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते।

सत्यमेवमेतत्, नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम्।

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूँ। यहाँ इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है। यह बात सत्य है कि इनके विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं।

नाश का स्वरूप

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिपेत् तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते। चक्षुषा दर्शनाभावात् 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ् प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाश बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किंच यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति। तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद्द्रव्यं विभक्तं विभागानर्हं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव।

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीस के वायु के बीच में बल से फेंक दे, फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आँख से नहीं दीखते। क्योंकि (णश) धातु का अदर्शन ही अर्थ है। जब अणु अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है। और परमाणु इसको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके। परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग से हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है, उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यहाँ तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा।

अग्नि में हुतद्रव्य का विनाश नहीं

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव। न हि तस्याभावः कदाचिद्भवति। एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति तच्चाग्नौ हुतं सद्वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति। तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं च, अतः कारणाद् यज्ञः कर्त्तव्य एवेति।

वैसे ही जो सुगन्ध आदि से युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उनके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है। इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये।

किंच भोः! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत् सेत्स्यति, पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः?

प्रश्न—जो यज्ञ से आयु और वृष्टिजल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है, तो इसकी सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना?

यज्ञ रोगनाशक

नैवं शक्यम्। नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात्। तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति।

उत्तर—यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता, और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उसमें हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा

भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं होते।

अग्नि में हुतद्रव्य से वायुशुद्धि

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वामापन्न उपर्याकाशं गच्छति। तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति। तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते।

और जब अग्नि उस वायु को वहाँ से हलका करके निकाल देता है, तब वहाँ शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुयुक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकाल के, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों को नाश करने वाला होता, और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

अग्नि में हुतद्रव्य से वायुजलशुद्धि और उससे आरोग्य

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति, स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा, वृष्ट्याधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्।

जो वायु सुगन्धादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता, और उससे वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इससे होम का करना अवश्य है।

अग्नि में हुतद्रव्य का नाश नहीं

अन्यच्च। दूरस्थले केनचित्पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति। परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात् तैर्न विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति, तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति।

और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रियों के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने से भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है, और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसका नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इससे अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं, उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे।

अग्निहोत्र में मन्त्रपाठ का प्रयोजन

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति, तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति, पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते?

प्रश्न—होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है,

फिर वहाँ वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम्? यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च, सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात् सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्।

उत्तर—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। **प्रश्न**—वह क्या है? **उत्तर**—जैसे हाथ से होम करते, आँख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। तथा होम से जो-जो फल होते हैं, उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं, और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है, सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

अग्निहोत्र में मन्त्रपाठ सत्यप्रयोजन की सिद्धि के लिये

कश्चिदत्राह—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित् पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति? अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिरिति च।

प्रश्न—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करें तो क्या दोष है? **उत्तर**—

अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है, वैसा अन्य का नहीं। और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य ही होता है। और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है, वह ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहाँ-वहाँ वेदों से ही फैला है, और जो-जो मिथ्या है सो-सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है। क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता।

अत्रार्थे मनुराह—

इस विषय में मनु का प्रमाण है कि—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥ १॥ (मनु०१.३)

(त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उसके अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं॥१॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ ॥२॥ (मनु०१२.९७)

(चातु०) अर्थात् चार वर्ण (तीन लोक), चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं॥२॥

क्योंकि—

बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।

तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥३॥ (मनु०१२.९९)

(बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेदशास्त्र है, सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, और इसी प्रकार मानना भी चाहिये। क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है॥३॥

यज्ञ के आवश्यक उपकरण और उनके प्रयोजन

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति?

प्रश्न—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचना, प्रणीता, प्रोक्षणी, और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का करना, यह सब करना ही चाहिये?

यज्ञवेदी का प्रयोजन

अत्र ब्रूमः—यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा—भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां हीमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति।

उत्तर—करना तो चाहिये, परन्तु जो-जो युक्तिसिद्ध हैं, सो-सो ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बना के उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न-भिन्न परमाणुरूप होके, वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये।

यज्ञवेदी से गणितविद्या की सिद्धि

Pustakam

तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद् रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव।

और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणितविद्या भी जानी जाती है कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है, उससे गणितविद्या भी समझी जाती है। इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी, चौड़ी और गहरी वेदि हो, तो उसमें इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगी, इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं।

यज्ञपात्र और यज्ञशाला का प्रयोजन

तथा सुवर्ण, चाँदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं, वे बिगड़ते नहीं। और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदी की ओर अग्नि में न गिरने पावें। ऐसी ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिससे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे, और वेदि में कोई पक्षी किंवा उसकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये।

यज्ञपात्र से न पाप और न पुण्य

परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते, तत्र पापनिमित्तभावात् सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किन्तु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति, तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः? तैर्विना तदसिद्धेः।

परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है। किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य

अच्छा बने, वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

कर्मकाण्ड में देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ग्रहण

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते? याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि—

प्रश्न—यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है?

उत्तर—जो-जो वेद में कहे हैं, उन्हींका ग्रहण होता है। इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥ (यजु०१४.२०)

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते। तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात्। यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निर्देवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते। तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात् परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च।

(अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं, वे ही वेदमन्त्र कहाते हैं। और इन वेदमन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है। इसमें यह कारण है कि जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। मन्त्रों का देवता नाम इसीलिये है कि उन्हींसे सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है।

मन्त्र और मन्त्रार्थ देवता

Pustakam

अत्राह यास्काचार्यो निरुक्ते—

'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'॥ (निरु०१.२)

अस्यार्थः—(कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते। तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्यः।

(कर्म सं०) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती है, और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्यन्त सुख मिलता है, इसी हेतु से उनका नाम देवता है।

दैवत

अथातो दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। (निरु०७.१)

(अथातो०) अथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते, यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते। यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति।

(अथातो०) दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है, उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता है।

तद्यथा—

अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ२ऽ आ सा॑दयादि॒ह॥

—(यजु०२२.१७)

अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयं, यत्र यत्र देवताच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति तदेव

दैवतमिति बोध्यम्। सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति।

जैसे— 'अग्निं दूतं०' इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द चिह्न है, यहाँ इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये। ऐसे ही जहाँ-जहाँ मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का लेख है, वहाँ-वहाँ उस-उस मन्त्र को ही देवता समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। सो देवता शब्द से जिस-जिस गुण से जो-जो अर्थ लिये जाते हैं, सो-सो निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है।

देवता और ऋषि

अत्रोच्यते—

[इस विषय में निरुक्त में कहा गया है—]

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च॥ (निरु०७.१)

ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणदैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते। देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति, प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात्।

इसमें यह कारण है कि [ऋषि अर्थात्] ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस-उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों [देवता] को जानना होता है। [इसके अतिरिक्त जिस अर्थ की प्रतीति कराने के लिये जिस मन्त्र से देवता प्रकाशित करना होता है, वह मन्त्र देवता शब्द से वाच्य है, ऐसा जाना जाता है। देवतावाचक ऋचाएँ वे हैं, जिनसे विद्वान् सब सत्यविद्याओं को प्रकाशित

करते हैं। यहाँ 'ऋच स्तुतौ' इस धातु से ऋचा शब्द व्युत्पन्न है।]

ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति— परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति। यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोऽस्ति ताः परोक्षकृताः। यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः। आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति। एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम्।

सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं। उनमें से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के, और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य-कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं। इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करने वाले मन्त्र ही हैं। इसी कारण से [कर्मकाण्ड में] इनका नाम देवता है, [ऐसा जानना चाहिये]।

अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों में देवता का निर्णय यज्ञ या यज्ञाङ्ग से

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। (निरु०७.४)

(तद्येऽनादि०) तत्तस्माद्ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा, अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते, तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते।

जिन-जिन मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहाँ-जहाँ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता, वहाँ-वहाँ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीळे०) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्यन्त जगत् का रचनरूप तथा शिल्पविद्या, और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ हैं, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानना चाहिये। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता

है, वे भी उन यज्ञों के देवता हैं।

यज्ञभिन्न स्थान में देवता का निर्णय

अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायो देवता वा, अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके— देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदैवतो मन्त्र इति॥ (निरु०७.४)

ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैव विकल्पोऽस्ति— नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्म, मातृदेवत्यं कर्म, विद्वद्देवत्यमतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।

और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं, उनका प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है [ऐसा याज्ञिक मानते हैं]। तथा [इस विषय में प्रथम विकल्प है—] जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता हैं [ऐसा नैरुक्त मानते हैं। तथा जो मन्त्र कामनाओं का प्रतिपादन करते हैं, उनका कामदेवता होता है, ऐसा लौकिक जन जानते हैं। इस प्रकार लोक में] इनमें बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य देव कहाते हैं, [ये सभी पूज्य हैं, सत्करणीय हैं, इसलिये उपकारक होने से इनका देवतात्व जाना जाता है।] परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर ही देव

अत्र परिगणनम्। गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं प्रजापतिः

परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

[यहाँ परिगणन है—] जो-जो गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उनके अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य ये अपने-अपने दिव्यगुणों से ही देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

देवता का स्वरूप

अन्यच्च—देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा॥

—(निरु०७.१५)

मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्॥ (निरु०७.१२)

अस्यार्थः—(देवो दानात्) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनम्, द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति। दीपनात् सूर्यादयो द्योतनान्मातृपित्राचार्यातिथयश्च। तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः। प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम्।

(देवो दानात्) दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना। दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को, इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देनेवाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम भी देव है। तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालनविद्या और सत्योपदेशादि

के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं।

अत्र प्रमाणम् —

इसमें कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठ०५.१५)

तत्र नैव परमेश्वरे सूर्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति। किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चात्ते हि प्रकाशयन्ति। नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्।

'सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सबका प्रकाश करनेवाला एक वही है। क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है।' इसमें यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है।

इन्द्रियाँ भी देव

नैनद्दे॒वा आ॑प्नुव॒न्पूर्व॒मर्श॑त्॥ (यजु०४०.४)

अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता, 'देवात्तल्' [अष्टा०५.४.२७] **इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'तल्' विधानात्। स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते। तद्यथा, अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोऽपि न त्रुट्यतीत्यादि**

गुणकथनमतो विपरीतोऽसिनैंव तत् कर्त्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया।

(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है। जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन, ये छः देव कहाते हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है। और देव शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। जो-जो गुण जिस-जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, उन-उन गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्य सृष्टि के गुण-दोषों का भी लेख आदि करना इसको 'स्तुति' कहते हैं। क्योंकि जितना-जितना जिस-जिस में गुण है, उतना-उतना उसमें देवपन है। इससे वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते। जैसे किसी ने किसी से कहा कि तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इसकी धार बहुत तेज है, और यह धनुष् के समान नमाने से भी नहीं टूटती, इत्यादि तलवार के गुणकथन को स्तुति कहते हैं।

कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड में मुख्य देवता परमात्मा

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम्। परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति। उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। कस्मात्? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते। यश्च तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते। अतः कारणाद्भेदो भवति। परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति।

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना। इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड में सबका इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य हैं। क्योंकि गुण वे कहाते हैं, जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता, क्योंकि कार्य कारण सम्बन्ध ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

अत्र प्रमाणम् —

'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (निरु०७.४)

(महाभाग्याद्देव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः? आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः? सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्र व्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च, ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति।

इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनीं चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं।

कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ (निरु०७.४)

ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात् कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वा गमनहेतवः। स आयुधं विजयावहम्, इषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात् सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताऽधिष्ठता मङ्गलकारी वर्त्तते। नातः परं किञ्चिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। और इनका रथ अर्थात् जो

रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्टगुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र है, सो एक परमेश्वर ही है। क्योंकि परमेश्वर ने जिस-जिसमें जितना-जितना दिव्यगुण रक्खा है, उतना-उतना ही द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

चालीस देवताओं (तैतीस और सात) का स्वरूप

अथान्यदपि प्रमाणम् —

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥ १॥

—(ऋ०८.२८.१)

[तीस और उससे अधिक अर्थात् तैतीस देव मेरे अन्तःकरण में विराजमान हों। वे सत् और असत् दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त करें।]

त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्॥ २॥

—(यजु०१४.३१)

[महर्षि ने यजुर्वेद-भाष्य में मन्त्र की उक्त पंक्ति का निम्नप्रकार व्याख्यान किया है—'यस्य प्रभावाद् भूतान्यशाम्यन् यः प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्तं त्रयस्त्रिंशतास्तुवत।' जिसके प्रभाव से प्रकृति के परिणाम महत्तत्त्व के उपद्रव शान्त हों जो प्रजा का रक्षक परमेश्वर के समान आकाश में व्यापक होके स्थित परमेश्वर अधिष्ठाता है, उसकी महाभूतों के तैंतीस गुणों से प्रशंसा करो।]

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।

निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥ ३॥ (अथर्व०१०.७.२३)

[जिस परमेश्वर की निधि की तैंतीस देवता सदा रक्षा करते हैं और जिसकी हे

देवताओ! तुम रक्षा करते हो, आज उस निधि को कौन जानता है?]

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेकं ब्रह्मविदो विदुः॥ ४॥ (अथर्व०१०.७.२७)

[जिसके शरीर में तैतीस देवता अवयव के समान बँटे हुए हैं, उन तैतीस देवताओं को कोई-कोई ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।]

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति॥ ५॥ (श०ब्रा०१४.६.९.३)

अथैषामर्थः—वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम्। शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः। त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति॥

अब आगे देवता विषय में तैतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जैसा ब्राह्मणग्रन्थों में वेदमन्त्रों का व्याख्यान लिखा है। (त्रयस्त्रिंशत्) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तैतीस देवता हैं—(८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

वसुओं का स्वरूप

कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ६॥ (श०ब्रा०१४.६.९.४)

तत्र (वसवः) अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च। एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति। आदित्यः सूर्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा। अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव। (कुत

एते वसव इति) यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति। किंच सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोकाः सन्ति। हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात् कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम्।

उनमें से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं, और ये ही सब के निवास करने के स्थान हैं। [इसके अतिरिक्त ये लोक सभी के निवास का अधिकरण हैं। क्योंकि ये इस सम्पूर्ण जगत् को बसाते हैं, वास का हेतु होने से अग्नि आदि की वसु संज्ञा होती है, यह जानना चाहिये।]

रुद्रों का स्वरूप

कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान् मर्त्याच्छरीरादुक्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्मादुद्रा इति॥७॥

—(श०ब्रा०१४.६.९.५)

(एकादश रुद्राः)—ये पुरुषेऽस्मिन् देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च। इमे दश प्राणा, एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति। कुत एते रुद्रा? इत्यत्राह—यदा यस्मिन् कालेऽस्मान् मरणधर्मकाच्छरीरादुक्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति। यतो जना रुदन्ति, तस्मात् कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

(११) ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं—जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्याहरवाँ जीवात्मा है। क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं, तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे उनका नाम रुद्र है।

Pustakam

आदित्यों का स्वरूप

कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥८॥

—(श०ब्रा०१४.६.९.६)

(द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः। कुतः? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति। तस्मात् कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति।

इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, [चक्र के समान भ्रमण करने से क्रमशः उत्पन्न वस्तुओं के अवयवों को परिणाम के द्वारा शिथिल अर्थात् जीर्ण करते हैं,] इसीसे इनका नाम आदित्य है।

इन्द्र और प्रजापति

कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति? कतमो यज्ञ इति? पशव इति॥९॥

—(श०ब्रा०१४.६.९.७)

इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात् स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्।

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य

हेतु है। और यज्ञ को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है। तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है। ये सब मिलके अपने-अपने दिव्य गुणों से तैंतीस देव कहाते हैं।

तीन देव और तीन लोक

त्रयो लोकास्त्रयो देवाः के त इत्यत्राह निरुक्तकारः—

धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति। (निरु०९.२८)

त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको, मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः। (श०ब्रा०१४.४.३.११)

एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः।

और तीन देव—स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव—अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सबका धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है, उसको अध्यर्धदेव कहते हैं।

चालीस देवों में केवल ईश्वर उपासनीय

किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह—

प्रश्न—क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं?

नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्त्तृ सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वव्यापकं सर्वाधारं सर्वकारणमनादिसच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादि-विशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति। स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्। ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद्

भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः।

उत्तर—इनमें से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है—(स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबका इष्ट, सबकी उपासना के योग्य, सबका धारण करनेवाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं, और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता, इत्यादि विशेषणों से वेदादिशास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसीको इष्टदेव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्टदेव मानता है, उसको अनार्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये।

अत्र प्रमाणम् —

[इस विषय में प्रमाण है।] क्योंकि—

आत्मेत्येवोपासीत। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मनमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति। योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्॥ (श०ब्रा०१४.४.२.१८, १९, २२)

(आत्मेत्ये०) इसमें आर्यों का इतिहास शतपथ-ब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है, सब मनुष्यों को उसीकी उपासना करनी उचित है। इसमें जो कोई कहे कि परमेश्वर को छोड़ के दूसरे में भी ईश्वर बुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहे कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा, क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है, वह सदा आनन्द में ही रहता है। जो दूसरे में ईश्वरबुद्धि करके उपासना करता है, वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है।

अनेनार्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्या ह्यासन्निति।

Pustakam

इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

ईश्वर में देव के दश अर्थों की सङ्गति

अतः फलितार्थोऽयं जातः, देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते सङ्गता भवन्तीति। तद्यथा—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहारः, द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, स्वप्नः, कान्तिः, गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति। स च स्वयंप्रकाशोऽस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा, दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा, व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं व्यवहारः, स्वप्नो निद्रा, मदो ग्लेपनं दीनता, एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुषङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च, मोदो हर्षः प्रसन्नता, कान्तिः शोभा, गतिर्ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'दिवु' धातु के जो दश अर्थ हैं, वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं, क्योंकि इनके दोनों अर्थों की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इनमें इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही सबका पूज्यदेव है। और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि—एक क्रीडा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पाँचवाँ मद। ये पाँच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ ही व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इसमें भी

सर्वथा नहीं होता, क्योंकि वे देव उसीकी व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति शोभा, गति जो ज्ञान, गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं। क्योंकि इनसे भिन्न अर्थों में जितने-जितने जिन-जिन में गुण हैं, उतना-उतना ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं, इससे पूज्यदेव एक वही है।

जड-चेतन देवों में से केवल ईश्वर उपास्य

अत्र केचिदाहुः-वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद्भेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते?

प्रश्न—इस विषय में कोई कोई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें जड़ और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है।

अत्रोच्यते—मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति। अत्र कश्चित् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति। तथा पूजनं, पूजा सत्कारः, प्रियाचरण-मनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियत एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्व-मप्यस्तु, नात्र काचित् क्षतिरस्ति। कुतः? वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे उसने आँख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है, यह लोक में व्यवहार है। इसमें कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप

को क्यों नहीं दिखलाता है, जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है, वैसे ही पूजा-विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है, इसीका नाम 'पूजा' है, सो सब मनुष्यों को करनी उचित है। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना-जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है, उतना-उतना उनमें देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहाँ-जहाँ उपासनाव्यवहार लिया जाता है, वहाँ-वहाँ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

देवता द्विविधः मूर्त और अमूर्त

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥

—(तै०आ०७.११; तै०उप०१.११.२)

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि॥ (तै०उ०१.१.१)

इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्चदेवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः। यथात्र माता-पितरावाचार्योऽतिथिश्च सशरीरा देवताः सन्ति। एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति।

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है—एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं, और पांचवाँ परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है। इस प्रकार से पाँच देव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

देवता त्रिविधः मूर्त, अमूर्त और मूर्तामूर्त

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनः षष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ

च सशरीराशरीरे देवते स्त इति। एवं सशरीरनिश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति। तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। इत्थमेष मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च। परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योऽस्ति। नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम्।

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पाँच मूर्त्तिमान् देव हैं। और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र ये मूर्त्तिरहित देव हैं। तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं। इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये। इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में, तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र ही देवपन है और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है। परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है।

आर्य वेदोक्त निराकार परमेश्वर के ही उपासक

अत इदानींतनाः केचिदार्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च, तदलीकतरमस्ति। तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति—पुरा ह्यार्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्, पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मनं पूज्यं विदुरिति।

प्रश्न—कितने ही आजकल के आर्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इसमें ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था।

तदप्यसत्। तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्त-रीत्येश्वरस्यैवोपासना- नुष्ठानाचारागमात्। अत्र प्रमाणानि—

उत्तर—यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों के द्वारा वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उनमें से थोड़े यहाँ भी लिखते हैं—

(अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि 'इन्द्रं मित्रम्०' ऋग्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्' इत्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र (निरु०७.१८) **द्रष्टव्यम्। तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०'** (यजु०३२.१) **इति यजुर्मन्त्रश्च**

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियंजि॒न्वम॑वसे हूमहे व॒यम्।
पूषा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युर॑द॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ १॥

—(ऋ०१.८९.५)

[दयानन्दऋग्वेदभाष्य से उद्धृत— हे विद्वन्! (यथा) जैसे (पूषा) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर (नः) हम लोगों के (वेदसाम्) विद्या आदि धनों की (वृधे) वृद्धि के लिये (रक्षिता) रक्षा करनेवाला (स्वस्तये) सुख के लिये (अदब्धः) अहिंसक अर्थात् जो हिंसा में प्राप्त न हुआ हो (पूषा) सब प्रकार की पुष्टि का दाता और (पायुः) सब प्रकार से पालना करनेवाला (असत्) होवे वैसे तू हो जैसे (वयम्) हम (अवसे) रक्षा के लिये (तम्) उस सृष्टि का प्रकाश करने (जगतः) जङ्गम और (तस्थुषः) स्थावरमात्र जगत् के (पतिम्) पालनेहारे (धियम्) समस्त पदार्थों का चिन्तनकर्त्ता (जिन्वम्) सुखों से तृप्त करने (ईशानम्) समस्त सृष्टि की विद्या के विधान करनेहारे ईश्वर को (हूमहे) आह्वान करते हैं, वैसे तू भी कर॥५॥]

हि॒रण्य॒गर्भः॑ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ २॥

—(ऋ०१०.१२१.१)

[जो स्वप्रकाश स्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी, एक ही चेतनस्वरूप था, जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था, सो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है। हम लोग उस सुखस्वरूप, शुद्ध परमात्मा के लिये ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से विशेष भक्ति किया करें।]

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ ३॥

—(यजु०३२.९)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! (यः) जो (गन्धर्वः) वेदवाणी को धारण करनेवाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (बिभृतम्) विशेष धारण किये (अमृतम्) नाशरहित (धाम) मुक्ति के स्थान (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्र, वोचेत्) गुण-कर्म-स्वभावों के सहित उपदेश करे और जो (अस्य) इस अविनाशी ब्रह्म के (गुहा) ज्ञान में (निहिता) स्थित (पदानि) जानने योग्य (त्रीणि) तीन उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय वा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान काल हैं, (तानि) उनको (वेद) जानता है, (सः) वह (पितुः) अपने पिता वा सर्वरक्षक ईश्वर का (पिता) ज्ञान देने वा आस्तिकत्व से रक्षक (असत्) होवे॥९॥]

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ४॥ (यजु०३२.१०)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! (यत्र) जिस (तृतीये) जीव और प्रकृति से विलक्षण (धामन्) आधाररूप जगदीश्वर में (अमृतम्) मोक्ष सुख को (आनशानाः) प्राप्त होते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) सर्वत्र अपनी इच्छापूर्वक विचरते हैं, जो (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक-लोकान्तरों और (धामानि)

जन्म, स्थान, नामों को (वेद) जानता है, (सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः) भाई के तुल्य मान्य सहायक (जनिता) उत्पन्न करनेहारा, (सः) वही (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करनेवाला है, यह निश्चय करो॥१०॥]

परीत्यं भूतानिं परीत्यं लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानंमभि सं विवेश॥ ५॥

—(यजु०३२.११)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे विद्वन्! आप जो (भूतानि) प्राणियों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (लोकान्) पृथिवी सूर्यादि लोकों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (च) और ऊपर नीचे (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेयादि उपदिशा तथा (दिशः) पूर्वादि दिशाओं को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त हो के (ऋतस्य) सत्य के (आत्मानम्) स्वरूप वा अधिष्ठान को (अभि, सम्, विवेश) सम्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है (प्रथमजाम्) प्रथम कल्पादि में उत्पन्न चार वेदरूप वाणी को (उपस्थाय) पढ़ वा सम्यक् सेवन करके (आत्मना) अपने शुद्धस्वरूप वा अन्तःकरण से उसको प्राप्त हूजिये॥११॥]

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ६॥

—(यजु०३१.१८)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे जिज्ञासु पुरुष! (अहम्) मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) बड़े-बड़े गुणों से युक्त (आदित्यवर्णम्) सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) पृथक् वर्त्तमान (पुरुषम्) स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हूं (तम्, एव) उसी को (विदित्वा) जान के आप (मृत्युम्) दुःखदायी मरण को (अति, एति) उल्लङ्घन कर जाते हो,

किन्तु (अन्यः) इससे भिन्न (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिये (न, विद्यते) नही विद्यमान है॥१८॥]

तदेंजति तन्नैजंति तद् दूरे तद्वंन्तिके।

तदन्तरंस्य सर्वंस्य तदु सर्वंस्यास्य बाह्यतः॥७॥ (यजु०३४.५)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! (तत्) वह ब्रह्म (एजति) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता (तत्) (न, एजति) अपने स्वरूप से न चलायमान और न चलाया जाता (तत्) वह (दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर अर्थात् क्रोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता (तत्) वह (उ) ही (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् वा जीवों के (अन्तः) भीतर (उ) और (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप के (बाह्यतः) बाहर भी वर्त्तमान है॥५॥]

स पर्य्यगाच्छुक्रमंकायमंव्रणमित्यादि च॥ (यजु०४०.८)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररहित (अव्रणम्) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित (शुद्धम्) अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (अपापविद्धम्) जो पापयुक्त, पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नहीं होता (परि, अगात्) सब ओर से व्याप्त जो (कविः) सर्वत्र (मनीषी) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला और (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप जिसकी संयोग से उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता, पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादिस्वरूप अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से (अर्थान्) वेद द्वारा सब पदार्थों को (व्यदधात्) विशेष

कर बनाता है, (सः) वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने के योग्य है॥८॥]

य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत्पि॒ता नः॑।
स आ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छद॑वरा॒ँ आवि॑वेश॥८॥

—(यजु०१७.१७)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! (यः) जो (ऋषिः) ज्ञानस्वरूप (होता) सब पदार्थों को देने वा ग्रहण करनेहारा (नः) हम लोगों का (पिता) रक्षक परमेश्वर (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को व्याप्त होके (न्यसीदत्) निरन्तर स्थित है और जो सब लोकों का (जुह्वत्) धारणकर्त्ता है (सः) वह (आशिषा) आशीर्वाद से हमारे लिये (द्रविणम्) धन को (इच्छमानः) चाहता और (प्रथमच्छत्) विस्तृत पदार्थों को आच्छादित करता हुआ (अवरान्) पूर्ण आकाशादि को (आविवेश) अच्छे प्रकार व्याप्त हो रहा है, यह तुम जानो॥१७॥]

किꣳस्वि॑दासीदधि॒ष्ठान॑मा॒रम्भ॑णं कत॒मत् स्वि॑त् क॒थासी॑त्।
यतो॒ भूमिं॑ ज॒नय॑न् वि॒श्वक॑र्मा॒ वि द्यामौर्णो॑न्महि॒ना वि॒श्वच॑क्षाः॥९॥

—(यजु०१७.१८)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे विद्वन् पुरुष! इस जगत् का (अधिष्ठानम्) आधार (किं, स्वित्) क्या आश्चर्यरूप (आसीत्) है, तथा (आरम्भणम्) इस कार्य-जगत् की रचना का आरम्भ कारण (कतमत्) बहुत उपादानों में क्या और वह (कथा) किस प्रकार से (स्वित्) तर्क के साथ (आसीत्) है कि (यतः) जिससे (विश्वकर्मा) सब सत्कर्मों वाला (विश्वचक्षाः) सब जगत् का द्रष्टा जगदीश्वर (भूमिम्) पृथिवी और (द्याम्) सूर्यादि लोक को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (महिना) अपनी महिमा से (व्यौर्णोत्) विविध प्रकार से आच्छादित करता है॥१८॥]

वि॒श्वत॑श्चक्षु॒रुत वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहु॒रुत वि॒श्वत॑स्पात्।

सं बा॒हुभ्या॑ं धम॑ति॒ सं पत॑त्रैर्द्या॒वा॒भूमी॑ ज॒नय॑न् दे॒व ए॑कः॥१०॥

—(यजु०१७.१९)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य से उद्धृत—हे मनुष्यो! तुम लोग जो (विश्वतश्चक्षुः) सब संसार को देखने (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर से सब का उपदेश करनेहारा (विश्वतोबाहुः) सब प्रकार से अनन्त बल तथा पराक्रम से युक्त (उत) और (विश्वतस्पात्) सर्वत्र व्याप्ति वाला (एकः) अद्वितीय सहायरहित (देवः) अपने आप प्रकाशस्वरूप (पतत्रैः) क्रियाशील परमाणु आदि से (द्यावाभूमी) सूर्य्य और पृथिवी लोक को (सम्, जनयन्) कार्य्यरूप प्रकट करता हुआ (बाहुभ्याम्) अनन्त बल पराक्रम से सब जगत् को (सम्, धमति) सम्यक् प्राप्त हो रहा है, उसी परमेश्वर को अपना सब ओर से रक्षक उपास्यदेव जानो॥१९॥]

इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति, तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम् ११—

अ॑भि॒ ३ त्वा॒ १ शूर॒ २ नोनु॑मो॒ ३ ऽदु॒ २ ग्धाइ॒ ३ व॒ १ धे॒ २ नवः॑।
ई॒ १ शा॒ २ न॒ ३ म॒ १ स्य॒ २ ज॒ २ ग॒ ३ तः॒ २ स्व॒ ३ र्दृ॒ १ श॒ २ मी॒ ३ शा॒ १ न॒ २ मि॒ ३ न्द्र॒ १ त॒ २ स्थु॒ ३ षः॥११॥

—(साम०उत्त०६८०)

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य {२७.३५} से उद्धृत—हे (शूर) निर्भय (इन्द्र) सभापते (अदुग्धा इव) बिना दूध की (धेनवः) गौओं के समान हम लोग (अस्य) इस (जगतः) चर तथा (तस्थुषः) अचर संसार के (ईशानम्) नियन्ता (स्वर्दृशम्) सुखपूर्वक देखने योग्य ईश्वर के तुल्य (ईशानम्) समर्थ (त्वा) आप को (अभि, नोनुमः) सन्मुख से सत्कार वा प्रशंसा करें॥३५॥]

न॒ १ त्वावाँ॒ २र अ॒ ३ न्यो दि॒ २ व्यो॒ ३ न॒ १ पार्थि॒ २र वो॒ ३ न॒ १ जा॒ २ तो न ज॑निष्यते।
अ॒ ३ श्वा॒ १ य॒ २ न्तो॒ ३ म॒ १ घ॒ २ व॒ ३ न्नि॒ १ न्द्र॒ २ वा॒ ३ जि॒ १ नो॒ २ ग॒ ३ व्य॒ १ न्त॒ २ स्त्वा ह॑वामहे॥१२॥

—(साम०उत्त०६८१)

इत्यादयश्च।

[दयानन्दयजुर्वेदभाष्य {२७.३६} से उद्धृत—हे (मघवन्) पूजित उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (इन्द्र) सब दुःखों के विनाशक परमेश्वर! (वाजिनः) वेगवाले (गव्यन्तः) उत्तम वाणी बोलते हुए (अश्वायन्तः) अपने को शीघ्रता चाहते हुए हम लोग (त्वा) आप की (हवामहे) स्तुति करते हैं, क्योंकि जिस कारण कोई (अन्यः) अन्य पदार्थ (न) न कोई (त्वावान्) आप के (दिव्यः) शुद्ध (न) न कोई (पार्थिवः) पृथिवी पर प्रसिद्ध (न) न कोई (जातः) उत्पन्न हुआ और (न) न (जनिष्यते) होगा, इससे आप ही हमारे उपास्यदेव हैं॥३६॥]

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥१३॥

—(ऋ०१.१२९.१)

[जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने मे नहीं आता, सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस समय 'सत्' अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रकृति बनती है, वह भी व्यवहार न होने से नहीं थी। व्यवहार न होने से उस समय परमाणु भी नहीं ये तथा विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, सो भी नहीं था। जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी ब्रह्म को ढक नही सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता, जैसे कोहरे का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता। उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण जगत् भी परमेश्वर की तुलना में कुछ भी नहीं है।]

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वेद॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑॥ १४॥

—(ऋ०१.१२९.७)

[जिस परमेश्वर के रचने से यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ वही इसे धारण करता है और समय आने पर इसका संहार भी करता है। वही इसका स्वामी है। जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही उसे प्राप्त करता है और जो उसे नहीं जानता वह दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होती है, तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य मे रहता है, और फिर उसी से उत्पन्न होता है।]

इत्यन्ताः सप्त मन्त्रा ऋग्वेदे॥

यत्प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्।
कियं॑ता स्क॒म्भः प्रवि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् कियत् तद्ब॑भूव॥ १५॥

—(अथर्व०१०.७.८)

[प्रजाओं के पालक परमात्मा ने जो परम, सबसे उत्कृष्ट सात्त्विक या द्युलोक, सबसे निकृष्ट तामस या भूलोक और जो मध्यम या राजस अन्तरिक्षलोक विश्वरूप समस्त ब्रह्माण्ड बनाया है, उसमें वह परम आश्रय स्तम्भरूप 'स्कम्भ' ज्येष्ठ ब्रह्म कितने अंश से प्रविष्ट और जो भाग उसमें प्रविष्ट नहीं है, वह कितना शेष है।]

यस्मि॒न् भूमि॑र॒न्तरि॑क्षं॒ द्यौर्यस्मि॒न्नध्याहि॑ता। यत्रा॒ग्निश्च॒न्द्रमाः॒ सूर्यो॑ वात॒स्तिष्ठ॒न्त्यार्पि॑ताः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥ १६॥

—(अथर्व०१०.७.१२)

[(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः) भूमि (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (यस्मिन्) जिसमें (द्यौः) द्युलोक (अध्याहिता) स्थित है, (यत्र) जिसमें (अग्निः) अग्नि, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (सूर्यः) सूर्य, (वातः) वायु (आर्पिताः) समर्पित हुए (तिष्ठन्ति) स्थित हैं, (तम्) उसे तू

(स्कम्भम्) स्कम्भ (ब्रूहि) कह, (सः) वह (कतमः स्विदेव) अतिशय सुखस्वरूप ही है।]

इत्यादयोऽथर्ववेदेऽपि बहवो मन्त्राः सन्ति। एतेषां मन्त्राणां मध्यात् केषाञ्चिदर्थः पूर्वः प्रकाशितः केषाञ्चिदग्रे विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते।

[इत्यादि अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में से कुछ का अर्थ पूर्व में प्रकाशित कर दिया है और कुछ का आगे प्रकाशित किया जायेगा, यहाँ प्रसङ्ग न होने से इनका अर्थ नहीं कहा जा रहा है।]

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥१॥

—(कठ०२.२०)

[वह ब्रह्म सूक्ष्म (जीव) से सूक्ष्म है और बड़े-से-बड़े (आकाशादि) से भी बड़ा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थिर है। उस ब्रह्म की महिमा को निष्काम, शोकरहित प्राणी बुद्धि के निर्मल होने से देख पाता है।]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥२॥

—(कठ०३.१५)

[वह ब्रह्म शब्द नहीं जो कान से सुना जा सके, स्पर्श नहीं जो त्वचा से अनुभव किया जा सके, रूप नहीं जो आख से देखा जा सके, रस नहीं जो जिह्वा से चखा जा सके, गन्धवाला नहीं जो नाक से सूंघा जा सके, अविनाशी, सदा एकरस, अजन्मा, अनन्त, महतत्त्व से भी सूक्ष्म और अचल है। उसको निश्चयात्मक रीति से जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है।]

Pustakam

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ ३॥ (कठ०४.१०)

[जो ब्रह्म यहाँ है वही वहाँ है, जो वहाँ है वही यहाँ है अर्थात् सर्वत्र एक ही शक्ति कार्य कर रही है। जो इस बात को न समझकर नानाभाव की कल्पना करता है वह आवागमन के आवर्त्तमान चक्र में फँसा रहता है।]

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ४॥

—(कठ०५.१२)

[सम्पूर्ण जगत् को एक ही ब्रह्म वश में रखता है, वही सब भूतों का अन्तरात्मा है। वही एक रूपवाली प्रकृति को अनेक नामरूपवाली बनाता है। जो धीर पुरुष जीवात्मा में स्थित उस परमात्मा को देख लेते हैं, उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं।]

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ ५॥

—(कठ०५.१३)

[परमात्मा नित्यों (ईश्वर-जीव-प्रकृति) में एकमात्र नित्य है और चेतनों (जीवात्मा व परमात्मा) में एकमात्र चेतन है और वह विविध कामनाओं को रचता है, जो विवेकी आत्मा में स्थित उस परमात्मा को अनुभव कर लेते हैं, उही को स्थायी शान्ति मिलती हौ अन्यों को नहीं।]

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ ६॥ (मुण्ड०२.१.२)

Pustakam

[निश्चय ही आभायुक्त वह पुरुष (परमात्मा) अमूर्त है। वह बाहर-भीतर सर्वत्र व्यापक है। वह जन्मरहित, प्राणरहित, मन से शून्य अत्यन्त पवित्र और अक्षर (प्रकृति) से भी परे और जीवात्मा से भी परे है।]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥७॥ (मुण्ड०१.१.९)

[जो सर्वज्ञ और सर्वत्र विद्यमान है। सम्पूर्ण विश्व में जिसकी महिमा ज्ञात है, निश्चय ही वह परमात्मा दिव्य हृदयाकाशरूपी ब्रह्मपुर में प्रतिष्ठित है।]

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥८॥ (इति माण्डू०मन्त्र-७)

[चतुर्थपाद जीवात्मा और ब्रह्म का तुरीय स्थान है। इस रूप में वह अन्तःप्रज्ञ नहीं होता, बहिःप्रज्ञ नहीं होता, उभयप्रज्ञ नहीं होता, प्रज्ञानघन नहीं होता, प्रज्ञ नहीं होता, अप्रज्ञ भी नहीं होता। जीवात्मा की शरीर में, और ब्रह्म की प्रकृति में क्रिया करते समय ही ये अवस्थाएँ होतीं हैं। वस्तुतः जीवात्मा और ब्रह्म का चतुर्थ पाद इन सब अवस्थाओं से परे है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है। उसका लक्षण भी नहीं हो सकता। न उसका चिन्तन हो सकता है, न निर्देश। वहां संसार का सब प्रपञ्च उपशम हो जाता है। वह शान्त अवस्था है, शिव अवस्था है, अद्वैत अवस्था है। प्रपञ्च के उपशम के कारण उस अवस्था में केवल आत्मा की सत्ता ही साररूप में रह जाती है। शरीर के प्रपञ्च के पीछे जीवात्मा और संसार के प्रपञ्च के पीछे ब्रह्म ही सार वस्तु है। जीवात्मा और ब्रह्म ही आत्मतत्त्व है। उसे ही जानना चाहिए।]

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्।

परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति॥९॥

—(तै०उ०२.१.१)

Pustakam

[ब्रह्म 'सत्य' है, 'ज्ञान' है, 'अनन्त' है। वह हृदय की गुहा में छिपा हुआ है, किन्तु साथ ही परम व्योम में, अन्तरिक्षमण्डल में भी वही स्पष्ट दीख रहा है। उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है और तब उसकी कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती, वह सब प्रकार से तृप्त हो जाता है।]

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि॥१०॥ (छान्दो०७.२४.१)

[जो 'भूमा' अर्थात् असीम है, निरतिशय है वही सुख है, जो 'अल्प' है, परिमित है उसमें सुख नहीं है। 'भूमा' ही सुख है, इसलिए 'भूमा' को ही जानना चाहिए। जिस अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है। जहाँ आत्मा अन्य वस्तु को देखता - सुनता जानता है, वही 'अल्प' है। जो भूमा है, वह अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है, मरणधर्मा है। (नारद ने पूछा) — यह 'भूमा' किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया —भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है।]

वेदोक्तेशानादि-विशेषण-प्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्त-विशेषण-प्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं यथावद्विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम्। एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्भ्रष्टमोक्षमूलरैरुक्तमार्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत् पुनः क्रमाज्जातमिति, न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः।

(इन्द्रं मित्रम्०) इसमें चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और 'अणोरणीयान्' इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका

प्रतिपादन किया है, उसीकी उपासना आर्य लोग सदा से करते आये हैं। इन मन्त्रों में से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है, उनका आगे वेदभाष्य में किया जायगा। और कोई-कोई आर्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहने वाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, यह उनका कहना व्यर्थ है, क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य लोग करते थे। इससे पूर्वोक्त शंका किसी प्रकार से नहीं आ सकती।

छन्दोभाग की तुलना में मन्त्रभाग को अर्वाचीन मानना अयुक्तिसङ्गत

किंच 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पति०' एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्भट्टमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं, तन्न सङ्गच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं यथाह्यज्ञानिनो मुखाद् अकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्रचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यादीनि ज्ञातव्यानि।

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था, और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इसमें एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है, और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं, एक तो छन्द और दूसरा मन्त्र। उनमें छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ

मालूम पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती, और उसमें कथन इस प्रकार का है, जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकलता हो। उसकी उत्पत्ति में (३१००) इकत्तीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीस सौ वर्ष हुए हैं। उसमें (अग्निः पूर्वेभिः०) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

हिरण्यगर्भ का आशय

तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः? हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्।

अत्र प्रमाणानि—

'ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोमृतꣳ हिरण्यम्॥' (श०ब्रा०६.७.१.२)

केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ (निरु०१२.२५)

यशो वै हिरण्यम्॥ (ऐ०ब्रा०७.३.६)

ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥ (श०ब्रा०१४.७.१.६)

ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ (श०ब्रा०१०.४.१.६)

एषामर्थः—ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशका लोकाश्च, यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः।

सो उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और (अग्निः पूर्वेभिः०) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा, इस विचार से कि हिरण्य नाम सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा

और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उनकी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि— ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति=इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद् वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात् कारणाद् यत्तैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनत्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति तद् भ्रममूलमेव विज्ञेयम्। यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे 'अग्निः पूर्वेभि' रित्यादिकारणम्, तदपि तादृशमेव। कुतः? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्य-दोषः। अन्यच्च ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः ये चाधीयते ते नवीनाः। तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्यऽस्त्यतश्च।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इससे उनका नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इससे डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है, सो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभिः०) इसका प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि इस मन्त्र के वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ाते हैं, वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम मन्त्रदृष्टा मनुष्य, मन्त्र, प्राण और तर्क का भी

है, इससे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

वेदार्थ की योग्यता

अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम् —

'तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूक्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥' (निरु०१३.१२)

अस्यार्थः—(तत्प्रकृती०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति। कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः। नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथक् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति। न यावद्वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति।

[मन्त्रों के पद, शब्द और अक्षरसमुदायों से भिन्न परस्पर विशेष्य-विशेषण के

द्वारा सामान्यवृत्ति में स्थित मन्त्रों के अर्थज्ञान की चिन्ता मनुष्यों को हुई। इस मन्त्र का क्या अर्थ होगा? ऐसा विचार बुद्धि में आने पर कहा कि मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये मनुष्य को तर्क का आश्रय लेना चाहिये। इन मन्त्रों का अर्थ न तो श्रुति अर्थात् श्रवणमात्र से और न केवल तर्कमात्र से पृथक्-पृथक् किया जाना चाहिये। किन्तु प्रकरण की अनुकूलता और पूर्वापर सम्बन्ध का अवलोकन करते हुए मन्त्रार्थ किया जाना उचित है। इसके अतिरिक्त जो न तो ऋषि हैं और न तपस्वी हैं, साथ ही जिनका अन्तःकरण भी पवित्र नहीं है, ऐसे अविद्वान् को मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जब तक मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष करने वाले मनुष्यों में अनेकविध विद्याओं में पारङ्गत उत्तम विद्वान् नहीं होता, तब तक सुतर्क के द्वारा भी वेदार्थ को नहीं कहा जा सकता है, यह कथन सिद्ध है।]

अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूक्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः। कथंभूतं तं तर्कम्? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूह-मभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम्। अतः किं सिद्धम्? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति। कुतः? तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति।

[प्राचीनकाल में मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के उच्छिन्न हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब कौन हमारे मध्य ऋषि होगा? उन्होंने सत्यासत्यविज्ञान के द्वारा वेदार्थ बोध के लिये तर्क रूपी ऋषि को प्रदान किया और कहा कि यही तुममें से ऋषि होगा, ऐसा उत्तर दिया। वह तर्क किस प्रकार का है? जो मन्त्रार्थ की तर्कणा शक्ति से युक्त हो। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो कोई वेदविद्या पारङ्गत पुरुष

वेदार्थ का प्रकाशन करता है, वही वेदव्याख्यान ऋषिप्रोक्त होता है, ऐसा मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त अल्पविद्यावान् और अल्पबुद्धि वाला पक्षपाती मनुष्य वेदार्थ का उपबृंहण करता है, वह वेदार्थ अनार्ष होता है। उसका किसीको भी सम्मान नहीं करना चाहिये। क्योंकि वह अनर्थकारी है। उसका आदर करने से मनुष्यों को भी अनर्थ की प्राप्ति होगी।]

इसमें विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् बिना विचारे उनके अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं। और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है, क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं। इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है (तत्प्रकृतीत०) इत्यादि। वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिये ऋषि है।

अतः पूर्वेभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तकैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति। नैवास्माद्भिन्नः कश्चित्पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः स्तोतव्य उपास्योऽस्तीति निश्चयः। एवम् 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थसङ्गतेर्नैव वेदेष्वर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों

के झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी-अपनी देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं, वे ठीक-ठीक नहीं है, और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। 'तर्क' का नाम ऋषि होने से सब आर्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है, वही उपासना करने योग्य है।

प्राचीन और नवीन से आशय

अन्यत्र—

'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः॥' (ऐ०ब्रा०२.४.३)

पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम्।

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं, उनको प्राचीन और उसके कार्य में जो प्राण हैं, उनको नवीन कहते हैं, इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्निनामक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना है।

श्रुति : छन्दस्-मन्त्र-श्रुति-निगम सभी शब्द पर्यायवाची

यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तदप्यसङ्गतम्। कुतः? छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्। तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति। वैदिकानां गायत्र्यादिविवृत्तानां लौकिकनामार्यादीनां च वाचकम्। क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि। अत्राहुर्यास्काचार्य्याः—

['जो यह कहा है कि छन्दस् और मन्त्र में भेद है, वह भी असंगत है। क्योंकि

छन्दस्, वेद, निगम, मन्त्र, श्रुति ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। इनमें छन्दस् शब्द अनेकार्थवाचक है। यह वैदिक गायत्र्यादि वृत्तों (छन्दों) का लौकिक आर्य्यादि छन्दों का वाचक है और कहीं स्वतन्त्र अर्थ का वाचक है। इस विषय में आचार्य यास्क कहते हैं कि—]

'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम संमितमृचा॥' (निरु०७.१२)

अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छानाच्छन्दो वेदः। तथा 'चन्देरादेश्च छः' इत्यौणादिकं सूत्रम् (४.२१९)। **'चदि आह्लादने दीप्तौ च' इत्यस्माद्धातोरसुन् प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते 'छन्दस्' इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।**

[अविद्यादि दुःखों का निवारण करने और सुखों के आच्छादन से छन्दस् वेद कहाते हैं। 'चन्द्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय 'चकार' के स्थान पर 'छकार' करने पर 'छन्दस्' शब्द सिद्ध होता है। वेदों के अध्ययन से समस्त विद्याओं की प्राप्ति होती है, उससे मनुष्य को प्रसन्नता मिलती है। इसलिये सम्पूर्ण अर्थों का जानने वाला 'छन्दस्' वेद है।]

छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम्॥

—(श०ब्रा०८.२.२.८)

एता वै देवताश्छन्दाꣳसि॥ (श०ब्रा०८.३.३.६)

अस्यायमभिप्रायः—'मत्रि गुप्तभाषणे' अस्माद् 'हलश्च' इति सूत्रेण 'घञ्' प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्त्तते स 'मन्त्रो' वेदः। तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात्। तथा 'मन ज्ञाने' अस्माद्धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इत्युणादिसूत्रेण 'ष्ट्रन्' प्रत्यये

कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स 'मन्त्रो' वेदः। तदवयवा 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादयो मन्त्राः गृह्यन्ते। यानि गायत्र्यादीनिच्छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद् देवताशब्देन गृह्यन्ते। अतश्च छन्दांस्येव देवाः। वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्ध-नास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम्। येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृताः आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ।

['मत्रि गुप्तभाषणे' धातु से 'हलश्च' सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'मन्त्र' शब्द सिद्ध होता है। गुप्त पदार्थों का भाषण जिसमें होता है, वह 'मन्त्र' वेद है। उसके अनेकार्थक अवयवों की भी मन्त्रसंज्ञा होती है, क्योंकि उस अर्थ से युक्त हैं। तथा 'मन ज्ञाने' धातु से 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' सूत्र से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर मन्त्र शब्द व्युत्पन्न होता है। सब मनुष्यों के द्वारा सब सत्य पदार्थ जिससे या जिसमें जाने जाते हैं, वह 'मन्त्र' वेद है। उस वेद के अवयवभूत 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र कहे जाते हैं। जो गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्र सर्वार्थ द्योतक होने के कारण देवता शब्द से अभिहित होते हैं, इसलिये छन्दस् ही वयोनाध देवता हैं। क्योंकि समस्त क्रियाओं और विद्याओं के प्रतिपादक होने से सम्पूर्ण विश्व को कर्मादि से ईश्वर ने बाँध रक्खा है। जिस कारण छन्दों से समस्त विद्या सम्यक् रूप से आच्छादित है, इसलिये वेद को 'छन्दस्' तथा मननीय होने के कारण मन्त्र कहा जाता है, अतः ये दोनों पर्यायवाची हैं।]

एवं 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय' इति मनुस्मृतौ 'इत्यपि निगमो भवती'ति निरुक्ते। श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्यायौ स्तः। श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः। तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

जैसे 'छन्द' और 'मन्त्र' ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम

हैं, वैसे ही 'निगम' और 'श्रुति' भी वेदों के नाम हैं। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं। तथा उनका 'मन्त्र' नाम इसलिये है कि उनसे सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है। और 'श्रुति' इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं। ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसको 'निगम' कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं; ऐसा ही जानना चाहिये।

तथा व्याकरणेऽपि—

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो लेः॥ (अष्टा०२.४.८०)

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः॥ (अष्टा०३.४.६)

वा षपूर्वस्य निगमे॥ (अष्टा०६.४.९)

अत्रापि च्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते।

वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं, उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषयविचारः

Pustakam

(५) अथ वेदसंज्ञाविचारः

ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं

अथ कोऽयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' इति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति?

प्रश्न—वेद किनका नाम है?

उत्तर—मन्त्रसंहिताओं का।

प्रश्न—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है,' फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं?

मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति। कुतः? पुराणेतिहास-संज्ञकत्वाद् वेदव्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभि-न्नैरृषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति।

उत्तर—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है। और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल है।

लौकिक इतिहास होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति, न चैवं मन्त्रभागे।

[जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामोल्लेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं, वैसे

मन्त्रभाग में नहीं हैं।]

किञ्च भोः!

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ (यजु०३.६२)

इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते। अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते, पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते?

प्रश्न—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास हैं, वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं। इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं। फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो?

मैवं भ्रमि। नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणौ मनुष्यस्य नाम्नी स्तः। अत्र प्रमाणम् —

चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः॥ (श०ब्रा०८.१.२.३)

उत्तर—ऐसा भ्रम मत करो, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इसका प्रमाण शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि—'चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है।' इस कारण से यहाँ प्राण से अन्तःकरण और आँख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं।

'कश्यपो वै कूर्मः।' (श०ब्रा०७.५.१.५)

'प्राणो वै कूर्मः।' (श०ब्रा०७.५.१.७)

अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति। शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः।

[इससे प्राण की कूर्म और कश्यप संज्ञा है। क्योंकि शरीर की नाभि में वह कूर्म के समान स्थित है।]

अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते। तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च (त्र्यायुषम्) त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु। चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मन आदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् —

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ (श०ब्रा०३.७.३.१०)

अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति, देवेषु विद्वत्सु यावद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति, (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्। येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि। अनेनान्यदप्युपदिश्यते। ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते।

(त्र्यायुषं ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि—हे जगदीश्वर! आपके अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आँख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे। (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो। तथा 'त्र्यायुषं जमदग्नेः०' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादि-

भिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी-अपनी बनाई टीकाओं में वेदों में जहाँ-तहाँ इतिहास का वर्णन किये हैं, वे सब मिथ्या हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ से भिन्न वेद और पुराण इतिहास नहीं

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते।

और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही 'इतिहासादि' नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं।

किंच भोः! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचित् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी'रित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते, एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति—

स बृ॑हतीं दिश॒मनु॒ व्यचलत्। तमि॑तिह॒ासश्च॑ पुरा॒णं च॒ गाथा॑श्च नाराश॒ꣳसीश्चा॑नु॒व्य॒ चलन्। इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै स पु॑रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नाराश॒ꣳसीना॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ (अथर्व०१५.६.१२)

अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते?

प्रश्न—जहाँ-जहाँ ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में (यद्ब्राह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि वचन देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास, पुराणादि नामों का लेख है, इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत, महाभारतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो?

मैवं वाचि। एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भागवतादीनामिति। कुतः? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्। तत्र—

उत्तर—इनके ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने-अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी है। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

देवासुराः संयत्ता आसन्॥ (तै०स०१.५.१.१) **इत्यादयः इतिहासा ग्राह्याः।**

जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् 'देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ (छान्दो०६.२.१)

आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्॥ (ऐ०उ०१.१.१)

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास॥ (श०ब्रा०११.१.६.१)

इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्॥

इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि।

(सदेव सो०) अर्थात् जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है, उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है।

कल्प

कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः, तद्यथा—

'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह, यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टाद् ऊर्ग् रसो जायते तस्मै तदाह। सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः॥' (श०ब्रा०१.७.१.२, ४)

इत्यादयो ग्राह्याः।

(इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

गाथा

गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो। यथा शतपथ-ब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति।

इसी प्रकार जैसे शतपथ-ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम 'गाथा' है।

नाराशंसी

नाराशंस्यश्च, अत्राहुर्यास्काचार्याः—

'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति॥' (निरु०८.६)

नॄणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्या इति।

और जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर, धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

ब्राह्मणों के इतिहासादि होने में अन्य प्रमाण

किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपद-मितिहासादिस्तेषां संज्ञेति। तद्यथा—ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति।

(ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में 'ब्राह्मणानि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा

हैं अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो-जो जैसी-जैसी कथा लिखी हैं, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये—

[न्यायदर्शनभाष्य में अन्य भी प्रमाण है—]

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्॥ १॥ (न्या०सू०२.१.६०)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायन का भाष्य है—]

'प्रमाणं शब्दो यथा लोके, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।'

अयमभिप्रायः—ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते—

[इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणग्रन्थ के शब्द लौकिक होते हैं, वैदिक नहीं। उनका विभाग भी तीन प्रकार का होता है।]

ब्राह्मणग्रन्थ में तीन प्रकार के वाक्य

सूत्रम् — विध्यर्थवादानुवादनवचनविनियोगात्॥ २॥ (न्या०सू०२.१.६१)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायन का भाष्य है—]

'त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि, विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति।'

[ब्राह्मणवाक्यों का विनियोग तीन प्रकार से होता है—१. विधिवचन, २. अर्थवादवचन, ३. अनुवादवचन।]

विधि

तत्र—

[उनमें से विधि का लक्षण है—]

सूत्रम् — विधिर्विधायकः॥३॥ (न्या०सू०२.१.६२)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायन का भाष्य है—]

'यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यादि।' ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः।

ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण हैं—जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं। उनमें से एक-विधिवाक्य है, जैसे—'देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थम्' सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय, इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जिसको सुख की इच्छा हो, वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे।

अर्थवाद

सूत्रम्-स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः॥४॥ (न्या०सू०२.१.६३)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायन का भाष्य है—]

स्तुति

'विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः संप्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्तिका च फलश्रवणात् प्रवर्त्तते। सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयत् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि।

दूसरा—अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है—एक—(स्तुति), अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो। [उदा० सबकी प्राप्ति और सबकी विजय के लिये देवों ने सर्वजित् नामक याग से यजन किया और सबको जीत लिया। जो इस सर्वजित् नामक याग से यजन करता है, वह सब-कुछ प्राप्त कर लेता है और सबको जीत लेता है।]

निन्दा

अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति। स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्तं पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा इत्येवमादि।

दूसरी—(निन्दा), अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उनको कोई न करे। [उदा०यज्ञों में प्रथम यज्ञ ज्योतिष्टोम है। इससे यजन न कर जो अन्य याग का अनुष्ठान करता है, वह पतित हो जाता है, जीर्णशीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। यहाँ सोमप्रधान यागों में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष्टोम को छोड़कर अन्य याग के अनुष्ठान की निन्दा की गई है, जिससे कोई ऐसा न करे।]

परकृति

अन्यकर्त्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। हुत्वा वपामेवाऽग्रेऽभिधारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्। तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिधारयन्ति। अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि।

तीसरा—(परकृतिः), जैसे इस चोर ने बुरा काम किया, इससे उसको दण्ड मिला, और साहूकार ने अच्छा काम किया, इससे उसकी प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। [कतिपय होता अग्निहोत्र का प्रारम्भ करके वपा का ही पृथक् अग्नि में सेचन करते हैं, परन्तु चरकशाखा के अध्वर्युगण दधिमिश्रित घृत की ही प्रथम आहुति देते हैं।

स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्तृक परस्पर विरोधी दो विधियों का उल्लेख परकृति नामक अर्थवाद कहा जाता है।]

पुराकल्प

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति। तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिः पवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामह इत्येवमादि। कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति। स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद् विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति।

चौथा—(पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था, इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं। [उदा०इस कारण उवत क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र के द्वारा स्तुति की। इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला बीते हुए अर्थ का यह विवरण पुराकल्प अर्थवाद है।]

अनुवाद

सूत्रम् —

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः॥५॥ (न्या०सू०२.१.६४)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायन का भाष्य है—]

'विध्यनुवचनं चानुवादो, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।'

इसका तीसरा भाग—अनुवाद है, अर्थात् जिसका पूर्व विधान करके उसीका

स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है—एक—शब्द का, और दूसरा—अर्थ का। जैसे 'वह विद्या को पढ़े' यह 'शब्दानुवाद' है। 'विद्या को पढ़ने से ही ज्ञान होता है' इसको 'अर्थानुवाद' कहते हैं।

जिसकी प्रतिज्ञा उसीमें हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को घटाना हो। जैसे परमेश्वर नित्य है, यह 'प्रतिज्ञा' है। विनाश रहित होने से यह 'हेतु' है। आकाश के समान है, इसको 'उदाहरण' कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है, वैसा परमेश्वर भी है, इसको 'उपनय' कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे—परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है, वैसा परमेश्वर भी।

इससे समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो, इसको 'अनुवाद' कहते हैं। सो ब्राह्मणपुस्तकों में यथावत् लिखा है।

अनेन प्रमाणेनापीतिहासादीनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पाँच प्रकार की कथा सब ठीक-ठीक लिखी है। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये, क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखी है।

सूत्रम् —न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात्॥ ६॥

—(न्या०सू०२.१.६५)

अस्योपरि वात्स्यायनः

[इस सूत्र के ऊपर वात्स्यायनभाष्य में लिखा है—]

'न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि, ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्यमैतिह्यम्।'

[केवल चार ही प्रमाण नहीं होते, तो फिर कितने होते हैं? उक्त चार के अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये चार भी प्रमाण हैं। वे ऐसा कहते हैं कि जिसका प्रवक्ता अनिर्दिष्ट हो, ऐसा परम्परा से चला आने वाला प्रवाद ऐतिह्य है।]

अन्यच्च—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः? 'इषे त्वोर्जे त्वेति' (श०ब्रा०१.७.१.२) **इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**

[इसके अतिरिक्त] ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती, क्योंकि 'इषे त्वोर्जे त्वेति०' इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक धर-धर के वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती। इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं, वे ही वेद हैं, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं।

ब्राह्मणों के वेद न होने में व्याकरण से भी समर्थन

अन्यच्च महाभाष्येऽपि—

'केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—'शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आ याहि वीतय इति॥'

—[महा०भा०१.१.१]

यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत् तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात्। अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञा मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि। किन्तु यानि 'गौरश्व' इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते। कुतः? तेष्वीदृग्शब्दपाठव्यवहारदर्शनात्।

ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में यह व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण

है, जिसमें लोक और वेदों के भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। जैसे—'गौरश्वः' इत्यादि लोक के और 'शन्नो देवीरभिष्टय' इत्यादि वेदों के हैं। किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और 'गौरश्वः' इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मणपुस्तकों के हैं, क्योंकि उनमें ऐसा ही पाठ है। इसी कारण से ब्राह्मणपुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

द्वितीया ब्राह्मणे॥ १॥ (अष्टा०२.३.६०)

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ २॥ (अष्टा०२.३.६२)

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु॥ ३॥ (अष्टा०४.३.१०५)

अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम्। तद्यथा—पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति। अत एवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति। यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत् तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसी'त्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः? 'द्वितीया ब्राह्मण' इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात्। अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति। अतः किं सिद्धम्? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति। अत्र प्रमाणम् —

[यहाँ पर भी पाणिनि आचार्य ने वेद और ब्राह्मण का भेदपूर्वक प्रतिपादन किया है। जैसे—प्राचीन ब्रह्मा आदि ऋषियों के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थ वेदव्याख्यान हैं। इसलिये इनकी पुराण और इतिहास संज्ञा है। यदि यहाँ छन्दस् और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा अभीष्ट होती तो 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' यहाँ 'छन्दस्' ग्रहण व्यर्थ हो जाता, क्योंकि 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में ब्राह्मण शब्द प्रकृत से आ रहा है। इससे विदित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही ब्राह्मणों का नाम है। इस विषय में प्रमाण है—]

ब्रह्म प्रोक्त होने से ब्राह्मणसंज्ञा

'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यः॥' (श०ब्रा०१३.१.५.३)

'समानार्थावेतौ [वृषशब्दो वृषन् शब्दश्च] ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च॥'

—(इति व्याकरणमहाभाष्ये अ०५.१.१)

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म' नाम ब्राह्मण का है, सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

सहचार उपाधि लक्षणा से भी मन्त्र ब्राह्मण नहीं

अन्यच्च—कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति। कुतः? एवं तेनानुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्। अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाभवितुमर्हतीति। इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्।

और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'उस लकड़ी को भोजन करा दो,' और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है, उसको भोजन कराना चाहिये, इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है।

वेद के समान ब्राह्मणग्रन्थों का प्रामाण्य नहीं

किञ्च भो! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति?

प्रश्न—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं?

अत्र ब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावात्, तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति, परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति।

उत्तर—ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं।

इति वेदसंज्ञाविचारः

Pustakam

(६) अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?

प्रश्न—वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं?

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः। तत्रादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते—

उत्तर—सब हैं। क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं वे सब वेदों से ही निकली हैं। उनमें से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥ १॥

—(ऋ०१.८९.५)

अनयोरर्थः—(तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता (जगतस्तस्थुषस्पतिम्) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी, (धियञ्जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता, (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः। (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति। (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति, तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्) रक्षकोऽप्यस्तु। एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु॥ १॥

(तमीशानम्) जो सब जगत् का बनाने वाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिम्) अर्थात् जगत् जो चेतन तस्थुष जो जड़, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है, (धियंजिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करने वाला है, उसकी (अवसे हूमहे वयम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना

करते हैं, (पूषा नः) क्योंकि वह हमको सब सुखों से पुष्ट करने वाला है। (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं, वैसे ही (रक्षिता) सबकी रक्षा भी करें। (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक है, वैसे ही सब सुख भी दीजिये॥१॥

वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुरातंतम्॥२॥

—(ऋ०१.२२.२०)

तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः॥२॥

(तद्विष्णोः०) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार से लिख दिया है, वहाँ देख लेना॥२॥

[अस्यायमर्थः—यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य, (परमम्) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं, (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः) विद्वांसः (सदा) सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति, कीदृशं तत्? (आततम्) आसमन्तात् ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्त्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्त्तते, मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति।]

[(तद्वि०)। (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है, उसका (परमम्) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदम्) जो प्राप्त होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है? सब में व्याप्त हो रहा है और उसमें देश, काल, वस्तु का भेद नहीं है, अर्थात् उस देश

में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसीकी प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं। (वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड से उद्धृत)]

ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व

परीत्यं भूतानिं परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानंमभि सं विवेश॥ ५॥

—(यजु०३२.११)

(परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्यकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य, सूर्यादींल्लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य, परितः सर्वतः, इत्वा प्राप्य, विदित्वा च, (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा, विदित्वा, चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति॥ ३॥

(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजाम्) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस

आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्षसुख को भोगता है॥३॥

ब्रह्म का महत्त्व

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः॥ ४॥ (अथर्व०१०.७.३८)

(महद्यक्षम्) यन्महत्सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपसि क्रान्तम्) विज्ञाने वृद्धम्, (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम् (तस्मिञ्छ्रय०) तस्मिन् ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद् वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति। कस्य का इव? (वृक्षस्य स्कन्धः०) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव॥ ४॥

(महद्यक्षम्) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सबसे बड़ा और सबका पूज्य है, (भुवनस्य मध्ये) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, (तपसि क्रान्तम्) जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उसका भी आधार और उसमें व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य, निर्विकार रहने वाला है, (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिसके आश्रय में वसु आदि पूर्वोक्त तेतीस देव ठहर रहे हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल के और वही स्थूल होके सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है॥४॥

ब्रह्म का एकत्व

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते॥ ५॥ (अथर्व०१३.४.१६)

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥ ६॥ (अथर्व०१३.४.१७)

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥७॥ (अथर्व०१३.४.१८)

(न द्वितीय०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति। नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः॥५॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः॥६॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते॥७॥

(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई दूसरा, न तीसरा न कोई चौथा परमेश्वर है॥५॥

(न पञ्चमो न०) न पाँचवाँ, न छठा, और न कोई सातवाँ ईश्वर है॥६॥

(नाष्टमो न०) न आठवाँ, न नवमा और न कोई दशवाँ ईश्वर है॥७॥

यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं विधायास्माद् भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते। सर्वानन्तर्यामितया प्राप्तः सन्, जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति, नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति। न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति।

इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है। इसीको दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ नव अङ्क बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है, अर्थात् उसके एकपने में भी भेद नहीं, और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रचके, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है॥८॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥९॥

—(अथर्व०१३.४.२०)

(तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है। उससे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं।

येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतम्) निश्चितं प्राप्तमस्ति, व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसम्बन्धत्वात्। (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात् स एवैष सहोऽस्ति। स खल्वेक एव वर्त्तते। न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति। एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात्। अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात्। तस्मात्, एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात्। स एष एक एकवृत्। एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते। पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद्रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात्॥८॥

[व्यापक और व्याप्य में संयोग सम्बन्ध होने के कारण जिसने यह जगत् व्याप्त किया है, उसी परमेश्वर ने निश्चित रूप से समस्त जगत् प्राप्त किया हुआ है। सब कुछ सहन करता है, इसलिये वह परमेश्वर 'सह' है। यह केवल एकाकी है। मन्त्र में 'एक' शब्द के तीन बार पठित होने से यह विदित होता है कि कोई दूसरा न तो उस परमेश्वर से अधिक है और न उसके तुल्य है। इसलिये वह सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है, क्योंकि द्वितीय ईश्वर सत्ता का अत्यन्त निषेध है। मन्त्र में 'एकवृत' कहा है, क्योंकि वह ईश्वर ही जड और चेतन, सृष्टि और प्रलय में एकरस रूप में विद्यमान रहता है। एक का आशय चेतनमात्र वस्तु से है। इसके साथ ही वह एकाकी ही इस समस्त जगत् को रचकर धारण करता है, इत्यादि विशेषणों से युक्त होने के कारण वह सर्वशक्तिमान् है।]

सर्वे॑ अस्मिन् दे॒वा ए॑क॒वृतो॑ भवन्ति॥१०॥ (अथर्व०१३.४.२१)

अस्मिन् सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्ति, अर्थात् प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति॥९॥

(सर्वे अस्मिन्०) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव, अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं, और प्रलय में भी उसके सामर्थ्य में लय होके उसी में बने रहते हैं॥९॥

एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमि'त्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति। ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते। किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति, तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति।

इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहाँ उन सबके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ वे मन्त्र आवेंगे, वहाँ-वहाँ उनका अर्थ कर दिया जायगा।

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

Pustakam

(७) अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

धर्म : वैदिक धर्म का स्वरूप

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।

दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ सं जाना॒ना उ॒पास॑ते॥ १॥ (ऋ०१०.१९१.१)

(सङ्गच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं सङ्गच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं सङ्गता भवत, येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत, सर्वदुःखनाशश्च भवेत्। (सं वद०) सङ्गता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत, यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन्। (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत, अर्थाद्येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्। युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—(देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग् ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन्, युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो, यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत्॥ १॥

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है—(सङ्गच्छध्वं) देखो, परमेश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है कि हे मनुष्यलोगो! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसीको ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसीकी प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी

प्रकार का दुःख न हो। (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्धवाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्न-उत्तरसहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे। (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो। और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं। (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं।

वैदिकधर्म समतामूलक

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ २॥

—(ऋ०१०.१९१.३)

(समानो मन्त्रः) हे मानवा! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति, तद्यथा राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः, सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद्विरोधरहित एव भवतु। यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत् तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुः, तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत। यतः प्रतिदिनं सर्वेषां

मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत। तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद् या न्यायप्रचाराढ्या सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिता परमार्थव्यवहारशोधिका वृद्धिशरीरबलारोग्यवर्द्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्येति। (समानं मनः०) मनःसंकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छात्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि, शुभगुणान् प्रति संकल्पः, अशुभगुणान् प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः। एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु। यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात् सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्यम्। (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम्। (एषाम्) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान् पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञपयामि। इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति, येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित् सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत्। (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम्। तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि। अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति॥ २॥

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो! जो तुम्हारा मन्त्र, अर्थात् सत्य असत्य का विचार है, वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो। और जब-जब तुम लोग मिलके विचार करो, तब-तब सब के वचनों को अलग-अलग सुन के, जो-जो धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो-सो सबमें से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभी का बराबर सुख बढ़ता जाय। (समितिः समानी) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि,

शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा है, सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायें। (समानं मनः सह चित्तम्) हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है। उससे सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा 'चित्त' उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक सा हो। 'सह' जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न रहें (एषाम्) इस प्रकार से जो मनुष्य मेरी आज्ञा के अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब-जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब-तब धर्म से युक्त ही करो। उससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ। इसलिए कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इससे भिन्न को कभी मत मानो॥२॥

वैदिकधर्म सामञ्जस्यमूलक

स॒मा॒नी व॒ आकू॑तिः समा॒ना हृद॑यानि वः।

स॒मा॒नम॑स्तु वो॒ मनो॒ यथा॑ वः॒ सुस॒हास॑ति॥ ३॥ (ऋ०१०.१९१.४)

अस्यायमभिप्रायः—हे मानवा वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसम्बन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति।

(समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं

परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु। यथा मदुपदिष्टस्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्यम्। (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान् मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु। (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम् —

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धी-र्भीरित्येतसर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति॥'

—(श०ब्रा०१४.४.३.९)

मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा 'कामः' तत्प्राप्त्यनु-ष्ठानेच्छा 'संकल्पः'। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो 'विचिकित्सा'। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः 'श्रद्धा'। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयो'ऽश्रद्धा'। सुखदुःखप्राप्त्यपीश्वरधर्माद्यु-परि सदैव निश्चयरक्षणं 'धृतिः'। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्यमित्यधैर्य'म-धृतिः'। सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा 'ह्रीः'। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्ति'र्धीः'। असत्याचरणदीश्वराज्ञाभङ्गात् पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादिवृत्ति'र्भीः'-एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या! वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः। सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आह्लादः कार्यः। नैव कञ्चिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम्, किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्यमिति॥३॥

(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं। हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो, जिससे मेरे

कहे धर्म का कभी त्याग न हो। और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समान हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायें, (कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इसका नाम काम है। (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको संकल्प कहते हैं। (विचिकित्सा) जो जो काम करना हो उस उसको प्रथम शङ्का कर करके ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है। (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको श्रद्धा जानना। (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये। (धृतिः) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं डोलना उसका नाम धृति है। (अधृतिः) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं। (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्री कहते हैं। (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है उसको धी कहते हैं। (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना। अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा—इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम 'मन' है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े, ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख

मत मानो, किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो॥३॥

धर्म का मूल : सत्य में श्रद्धा एवं असत्य में अश्रद्धा

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापतिः॥ ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ (यजु॰१९.७७)

(दृष्ट्वा॰) अस्यायमभिप्रायः—प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति।

(दृष्ट्वा॰) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है, वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

(प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह—(अश्रद्धाम॰) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्ये- ऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात्। अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति, तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्यमिति॥४॥

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से है कि (अश्रद्धाम॰) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन

अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धास॰) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो, वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो। और जो जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस-उस में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो॥४॥

धर्म में मैत्रीभाव की शिक्षा

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥५॥

—(यजु॰३६.१८)

(दृते दृꣳह॰) अस्यायमभिप्रायः सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्येनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्य ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा—

(दृते दृꣳह॰) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्तें। और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसीको ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में प्रवृत्ति हो।

हे (दृते) सर्वदुःखविनाशकेश्वर! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्। पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय। (मित्रस्याहं॰) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि। (मित्रस्य

च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योऽन्यं समीक्षामहे, सुखसम्पादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यरेक एव मन्तव्यः॥५॥

(दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग आपस में वैर छोड़के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें, और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने योग्य है॥५॥

धर्मज्ञान और उसका अनुष्ठान ईश्वरकृपा से

अग्नें व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥६॥ (यजु०१.५)

(अग्ने व०) अस्यायमभिप्रायः—सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति। नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च भवतः।

(अग्ने व०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उनके सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता।

हे अग्ने व्रतपते! सत्यपते! (व्रतम्) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि। अत्र प्रमाणम् —

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्॥

—(श०ब्रा०१.१.१.४-५)

सत्याचरणाद् देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति। (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्। (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम्। किञ्च तद् व्रतमित्यत्राह—(इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात् पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति। अस्यैव धर्मास्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम्। नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोऽनुगृह्णाति। यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च, एवमेव धर्मं कर्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति। कुतः? जीवे तत्सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगकरणाच्च। येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावन्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्येति॥ ६॥

हे सत्यपते परमेश्वर! (व्रतम्) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथ-ब्राह्मण में भी लिखा है कि—'जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे 'देव' कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उनको 'मनुष्य' कहते हैं।' इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूँ। (तच्छकेयम्) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ। (तन्मे राध्यताम्) उस अनुष्ठान को सिद्ध करने वाले एक आप ही हो। सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिए। (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूँ। उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूँ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य आँख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अँधे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म को करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥ ६॥

धर्म : सत्य में श्रद्धा और उससे सुख

व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम्।

दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते॥ ७॥ (यजु०१९.३०)

(व्रतेन दी०) अस्याभिप्रायः—यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् नासत्ये चेति।

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि—जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों की श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति, तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति। (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति, तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति। (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति, तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः?

सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः। (श्रद्धया) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धां वर्धेत, तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं प्राप्यते, नान्यथेति। अतः किमागतं, सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः॥७॥

(व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो॥७॥

श्रमादि धर्म के लक्षण

श्रमेंण॒ तपंसा सृ॒ष्टा ब्रह्मंणा वि॒त्तऋते श्रि॒ता॥८॥ (अथर्व०१२.५.१)

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रायः—श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति।

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों का अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि, तपो धर्मानुष्ठानम्, तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः। अतः (ब्रह्मणा०) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः। (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं

सेवमानाश्च सदैव भवन्तु॥८॥

क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः०) जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है, इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें (ऋते श्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें॥८॥

स॒त्येनाव॑ृता श्रि॒या प्राव॑ृता॒ यश॑सा॒ परी॑वृता॥९॥ (अथर्व०१२.५.२)

(सत्येनाव०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु। (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतो वृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः॥९॥

(सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्तिराज्य आदि ऐश्वर्य सिद्ध करके, अति श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उसको चारों ओर पहिन के शोभित हो, (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये॥९॥

धर्म : सत्य ही विश्वास का मूल

स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म्॥१०॥ (अथर्व०१२.५. (१).३)

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः। (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति

नासदिति, तथा सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वतः ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु। (दीक्षया गुप्ता) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृत्सत्योपदेशया दीक्षया गुप्ताः रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः। (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) 'यज्ञो वै विष्णुः' व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु। (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः॥१०॥

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों। (श्रद्धया पर्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल, तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हों और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करो। (यज्ञे प्रतिष्ठता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर, अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ, अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो, किन्तु इसमें आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है॥१०॥

दीनतारहित धर्म का आचरण

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥११॥

—(अथर्व०१२.५. (२).१)

अन्यच्च—(ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः, (तेजश्च) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दीनता, सत्यव्यवहारे कर्त्तव्या। (सहश्च) सुखदुःखहानिला-

भादिक्लेशप्रदत्तवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्। (बलं च) ब्रह्मचर्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्व-सम्पादनं, भीषणविकर्मयुक्तं बलं च कार्यमिति। (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुर-भाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्येति। (इन्द्रियं च) मनआदीनि वागभिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि। (श्रीश्च) सम्राड् राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्येति। (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः, पक्षपातरहितः, सत्यचरणयुक्तः, सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम्॥ ११॥

(ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख-दुःख हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्षशोकादि छोड़ के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, उनको पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके पक्षपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सबका उपकार करने वाला और जिसका फल, इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसीको 'धर्म' और उससे उलटा करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो 'सङ्गच्छध्वं०' इस मन्त्र से लेके 'यतोऽभ्युदय०' इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं॥ ११॥

धर्म : चतुर्विध पुरुषार्थ से धनधान्य की उन्नति

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च॥ १२॥

—(अथर्व०१२.५. (२).२)

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थ-मुपदिष्टोऽस्ति। (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचार-करणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद् धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमाः कीर्त्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः। एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्ये॥ १२॥

(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना, इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना। (राष्ट्रं च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुण सहित होके सब कामों को सदा करना चाहिये। (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध

करना और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो। (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। (यशश्च) उत्तम कामों में भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है। (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना और सत्यविद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खर्च यथावत् करना चाहिये। इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ॥१२॥

धर्म : चतुर्विध पुरुषार्थ से सत्य विज्ञान की प्राप्ति

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥१३॥

—(अथर्व०१२.५. (२).९)

(आयुश्च) वीर्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्या। यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्ये। शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स 'प्राणः', बाह्याद्देशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः', शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशरीरबलं च संपादनीयम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्यम्॥१३॥

(आयुश्च) वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्तिपूर्वक ही

भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। (रूपं च) अत्यन्त विषय-सेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण (करने) के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े। (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है, उसको 'प्राण' और जो बाहर से भीतर जाता है, उसको 'अपान' कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ। (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो॥१३॥

धर्म : पुरुषार्थ से लौकिक समृद्धि

पयश्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चान्नाद्यं॑ च ऋ॒तं च स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च॥ १४॥ (अथर्व०१२.५. (२).१०)

(पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयम्, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च, (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्याः। बहुभिश्चकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः॥ १४॥

(पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो। (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यकशास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसीकी सदा उपासनी करनी चाहिये। जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये। (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है, उस इष्ट की सिद्ध करने की पूर्ति, जिस-जिस उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो-जो अवश्य हो सो-सो सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने सन्तान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें॥१४॥

धर्मलक्षण : तैत्तिरीय-आरण्यक के अनुसार तप का स्वरूप

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम् —

'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः॥१॥ (तै०आ०७.९ (तै०उ०शि०व०१.९)

(एतेषामभिप्रायः)—सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति। (ऋतं च) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानम्, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च, (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोरृतादिधर्म्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०)

अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसम्पादनं कार्यम्, (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां सङ्गसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्। (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्या, (प्रजनश्च०) वीर्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्। (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्यस्य मतमस्ति। (तप इति०) यदृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्यस्य मतमस्ति। परन्तु नाको मौद्गल्यस्येदं मतमस्ति—स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोऽस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति॥१॥

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं—(ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें। उसके साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना भी बराबर करते जायें। (सत्यं च) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो, वैसा ही बोलो और उसी को मानो। उसके साथ पढ़ना-पढ़ाना भी कभी न छोड़ो। (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो। (दमश्च०) अपनी आँख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ। (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्म सेवन में ही स्थिर रक्खो। (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो। तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो। (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों में सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सबका सुख चाहने वाले हों, उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष —इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो। (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको 'पुत्रेष्टि' कहते हैं, उसमें श्रेष्ठ भोजन और औषध सेवन सदा करते रहो तथा ठीक-ठीक गर्भ की रक्षा भी करो। (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो।

ऋत से लेके प्रजापति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं, उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है, सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं, वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्यविद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन ग्रहण किया है। सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना-पढ़ाना है, वही सबसे उत्तम है॥१॥

धर्मः गृहस्थ में प्रवेश के इच्छुक स्नातक के लिये उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न

प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ ।१॥ (तै०आ०७.११.१ {तु०तै०उप०शि०व०१.११.१})

(वेदमनूच्या०) आचार्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति—हे शिष्य! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः। शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये। आचार्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलैश्वर्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये॥ १॥

(वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है, वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो! तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो। इसमें आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके, भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ पढ़ने-पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो।

सुचरित्र के पालन का उपदेश

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ २॥

—(तै०आ०७.११.२ {तु०तै०उप०शि०व०१.११.२})

देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं तेषां सेवनं च सदैव कार्यमेवं मातृपित्राचार्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम्। नैतत्कदापि प्रमादात् त्याज्यमिति। वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः—भोः पुत्रा!

यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि। यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि॥ २॥

(देवपितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता-पिता आचार्य अर्थात् विद्या के देने वाले और अतिथि जो सत्य उपदेश करने वाले विद्वान् पुरुष हैं, उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें। कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं॥ २॥

दान

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥

—(तै०आ०७.११.३ {तु०तै०उप०शि०व०१.११.३})

येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम्। मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम्। अर्थात् प्रतिग्रहाद्दानमतीव श्रेयस्करमिति। भोः शिष्य! तव कस्मिंचित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्॥ ३॥

जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उनको प्रीति वा अप्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुमको किसी बात में सन्देह हो॥ ३॥

Pustakam

मार्गदर्शक

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

—(तै०आ०७.११.४ {तु०तै०उप०शि०व०१.११.४})

तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां, विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च। यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम्। अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति। ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम्। ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति॥ ४॥

तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस धर्म के काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश, अर्थात् अविद्या को हटा के उसके स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसीको उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों का ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो॥४॥

धर्मः तप का स्वरूप

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मतदुपास्वैतत्तपः॥ (तै०आ०१०.८)

इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—(ऋतं०) यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं

च, (सत्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात् पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति। अन्यच्च—(भूर्भु०) हे मनुष्य! सर्वलोकव्यापकं यद् ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति॥

(ऋतं तपः०) तप इसको कहते हैं कि जो 'ऋत' अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, 'श्रुत' अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, 'शान्त' उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वाध्याय में प्रवृत्त रहें। तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम शक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है।

ज्ञानमूलक धर्म के ११ लक्षण

सत्यं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳ हि सत्यं, तस्मात् सत्ये रमन्ते।

तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं तस्मात् तपसि रमन्ते।

दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद् दमे रमन्ते।

शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते।

दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने रमन्ते।

धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं तस्माद्धर्मे रमन्ते।

प्रजन इति भूयाꣳसस्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते।

Pustakam

अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः।

अग्निहोत्रमित्याह, तत्स्मादग्निहोत्रं रमन्ते।

यज्ञ इति यज्ञो हि देवानां यज्ञेन हि देवा दिवं गतास्तस्माद्यज्ञे रमन्ते।

मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद्विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते।

न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषत्। (तै०आ०१०.६२)

(अयमभिप्रायः) (सत्यं प०) सत्यभाषणात् सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचन नास्त्येव। कुतः? सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति। सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति। तस्मात् कारणात् सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति। तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम्। एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते। एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्या। विदुषे लक्षणं मानसो व्यापारः। एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति। सत्येनादित्याः प्रकाशितो भवति। सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति। मानसा ऋषयः विज्ञानादयश्चेति॥

१. (सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है। सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है, क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये।

२. (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण न करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है। इससे तप में ही नित्य ही निश्चित रहना ठीक है।

३. (दम इति०) जितेन्द्रिय होके जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये।

४. [(शम इति०) अन्तःकरण के क्रोध आदि दोषों की समाप्ति के लिये शम है, इसलिये मुनिगण अरण्य में शम का पालन करते हैं।]

५. (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं, और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये।

६. (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसीको धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये।

७. (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं।

८. (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करना उचित है।

९. (अग्नहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये।

१०. (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं, वे ही विद्वान् होते हैं। इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं, क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं, वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं। इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है।

११. (न्यास इति०) ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहार को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके; जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और

Pustakam

सत्यविद्या से लाभ पहुँचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है।

धर्म के ११ उत्तम लक्षण और साधन

प्राजापत्यो हाऽऽरुणिस्सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार, किं भगवन्तः परमं वदन्तीति, तस्मै प्रोवाच—सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति।

तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् तपं परमं वदन्ति।

दमेन शान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमः परमं वदन्ति।

शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षꣳ शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमः परमं वदन्ति।

दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳसर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं परमं वदन्ति।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।

प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति। (तै०आ०१०.६३)

१. (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उसमें सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षक होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा

सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है।

२. (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं।

३. (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन करके विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है।

४. (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इससे यह धर्म का लक्षण हैं।

५.(दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं, इससे दान भी धर्म का लक्षण है।

६. (धर्मो वि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये।

७. (प्रजननं०) जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है, और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है, इससे प्रजनन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्यऋक् पृथिवीरथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयस्साम सुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति।

अग्निहोत्रꣳ सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिस्स्विष्टꣳ सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति।

यज्ञ इति यज्ञो हि देवानां यज्ञेन हि देवा दिवं गता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।

मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानस ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति।

—(तै०आ०१०.६३)

८. (अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग में तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती है, इससे तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं।

९. (अग्निहोत्रं) प्रातःकाल में सन्ध्या और वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं।

१०. (यज्ञ इति०) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं, इससे विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं।

११. (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उसमें जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये हैं और कुछ आगे भी कहेंगे।

सत्यमूलक धर्म से ब्रह्म की प्राप्ति

Pustakam

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ १॥

—(मुण्ड०३.१.५)

अनयोरर्थः—(सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः॥ १॥

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसीकी आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥ १॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ २॥

—(मुण्ड०३.१.६)

(सत्यमेव) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते। तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति, नान्यथेति। अत एव सत्यधर्मानुष्ठानधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति॥ २॥

(सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करने वाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है, वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है,

सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, जहाँ ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥३॥

वेदप्रतिपादित धर्म

अन्यच्च—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥१॥' (मी०सू०१.१.२)

अनयोरर्थः—(चोदना) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थादधर्माचरणाद् बहिरस्त्यतो धर्मात्मा लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति॥१॥

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त, अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है॥१॥

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥२॥' (वै०सू०१.१.२)

(यतोऽभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति॥२॥

(यतोऽभ्युद०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस् अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है॥२॥

इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति, एक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति, नैव चास्माद् द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम्।

इत्यादि अनेक मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही है, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

॥ इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः ॥

Pustakam

(८) सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

सृष्टिपूर्व अर्थात् प्रलयकालीन स्थिति

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

—(ऋ०१०.१२९.१)

एतेषामभिप्रायार्थः—यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयित्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते। पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति।

(नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः? तत् व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्। (नो सदासीत्तदानीम्) तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत। (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन्। (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि न आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत। (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति, यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदी प्रवाहादिकं च चलति, अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति? नेत्याह। किंत्वावरीवः, आवरकमाच्छादकं भवति? नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात्, तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि। किं गहनं गभीरमधिकं भवति? नेत्याह। अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च॥ १॥

(नासदासीत्) जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान्

परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता, सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (नो सदासीत्तदानीं) उस काल में 'सत्' अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, सो भी नहीं था। (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता, और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता, जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता, और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है, और जो यह उसका बनाया जगत् है, सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२॥

—(ऋ०१०.१२९.२)

(न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो, पुनः उसका और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे।

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥३॥

—(ऋ०१०.१२९.३)

[उस समय तमस् अर्थात् प्रकृति अन्धकार से आच्छादित थी। उस प्रलय अवस्था में यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अवस्था में विद्यमान था। प्रकृति को

आच्छादित करने वाला तमस् नगण्य आभु (व्यापक) तत्त्व से आच्छादित था। एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म उस प्रकृति को अपने तप के प्रभाव से कार्यरूप में उत्पन्न करता है।]

सृष्टि का प्रारम्भ

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

—(ऋ०१०.१२९.४)

[आदि सर्ग में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला तत्त्व 'काम' था। मात्र उपादान कारण से सृष्टि उत्पन्न नहीं होती, उसके लिये सङ्कल्पशक्ति सम्पन्न चेतन तत्त्व की परम आवश्यकता है और यह काम ब्रह्म के तपस् की महिमा से प्रकट हुए प्रजापति के मन में होता है। क्रान्तदर्शी मनीषी अपने हृदय में प्रत्यक्ष करके असत् (अव्यक्त कारण) में सत् के बन्धुत्व को जान पाते हैं कि 'असत्' और 'सत्' के मध्य विच्छिन्न न होने वाला बन्धन (सम्बन्ध) है।]

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

—(ऋ०१०.१२९.५)

[एषाम्=इन जीव चेतनों की, विततः=विस्तृत अर्थात् पूर्ण, रश्मिः=नियमन करने वाले धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, राग-वैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य- ये आठ भाव आदि सर्ग में विद्यमान थे। यही भाव, अधःस्वित्=नीचे की ओर ले जाने वाले, आसीत्=थे, उपरिस्विदासीत्=ऊर्ध्वलोक में भी ले जाने वाले थे। ऋषि का मन्तव्य यह है कि सृष्टिपूर्व में भी ऊर्ध्व और अधः लोकों की गति के नियामक पूर्वोक्त आठ भाव विद्यमान थे। उन्हींके अनुसार सृष्टि होने पर जीव भोग और भाग्य प्राप्त करता है।]

Pustakam

को अ॒द्धा वे॑द॒ क इ॒ह प्रवो॑चत् कु॒त आजा॑ता॒ कुत॑ इ॒यं वि॒सृ॑ष्टिः।
अ॒र्वाग्दे॒वा अ॒स्य वि॒सर्ज॑ने॒नाथा॒ को वे॑द॒ यत॑ आब॒भूव॑॥ ।६॥

—(ऋ०१०.१२९.६)

[इयं विसृष्टिः कुत आजाता=यह नाना रूपों वाली सृष्टि कहाँ से प्रकट होती है? इस रहस्य को, अद्धा=वास्तव में, क=प्रजापति, वेद=जानता है, वही कः=सुखस्वरूप, इह=इस सृष्टि में ऋषियों को, प्रवोचत्=बतलाता है। अस्य=इस, विसर्जनेन=सृष्टि के, अर्वाग्=बाद में, देवाः=देव अर्थात् विद्वान् उत्पन्न होते हैं, अतः, वे भी अपने से पूर्व उत्पन्न सृष्टि के विषय में कुछ नहीं जानते हैं। यतः=जिस परमात्मा से, आबभूव=सृष्टि उत्पन्न होती है, उसे, कः=परमात्मा, वेद=जानता है। उसके अतिरिक्त इस रहस्य को जानने वाला और कोई नहीं है।]

न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि॥ २-६॥

'न मृत्यु०' इत्यादि पाँच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसलिये इनकी व्याख्या भी यहाँ नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे॥२-६॥

प्रलय में कारणरूप होकर सब जगत् परमेश्वर में लीन

इ॒यं वि॒सृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः प॒रमे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑॥ ७॥

—(ऋ०१०.१२९.७)

(इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति। तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति। योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन् परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद् व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणं परब्रह्मसामर्थ्यं प्रलीना च भवति। (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः

परमेश्वरोऽस्ति। (अङ्ग वेद) हे अङ्ग मित्र जीव! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्द-माप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति॥७॥

(इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है, और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है। और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारण रूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है, और फिर भी उसी में उत्पन्न होता है॥७॥

सृष्टिपूर्व विद्यमान हिरण्यगर्भ सृष्टि का रचयिता

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥

—(ऋ०१०.१२१.१)

(हिरण्यगर्भः) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः, पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति॥१॥

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है, और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं॥१॥

ईश्वर अपने पुरुषत्व (व्यापकता) से इस जगत् के कण-कण में परिपूर्ण

स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात्।

स भूमिं॑ स॒र्वत॑ स्पृ॒त्वाऽत्य॑तिष्ठद् दशाङ्गु॒लम्॥ १॥ (यजु०३१.१)

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च।

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं। 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को। उसमें जो सर्वत्र व्याप्त, और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना।

अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि—

[प्रस्तुत प्रकरण में पुरुष शब्द के अर्थ में निम्न प्रमाण हैं—]

'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्॥' (निरु०१.१३)

(पुरि०) संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः।

'पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः, पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। (निरु०२.३)

(पुरुषः) पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तते इति, (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् पुरुषः। (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभि-व्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः। तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति॥' (निरु०२.३)

(यस्मात्परं०) यस्मात् पूर्णात् परमेश्वरात् पुरुषाख्यात् परं प्रकृष्टमुत्तमं किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव। तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा किञ्चदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम्। य स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन् सन् स्थिरोऽस्ति। क इव? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन् परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति। यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति। तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात् पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते। इत्ययं मन्त्रो निगमो निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम्।

[(यस्मात्परं०) जिस पूर्ण पुरुष परमेश्वर से उत्कृष्ट अर्थात् बढ़कर कोई अन्य वस्तु नहीं है और (नापरमस्ति) जिसके तुल्य भी कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त उस पुरुष से न तो कोई सूक्ष्म और न कोई स्थूल या महान् था, न है, न होगा, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। जो स्तब्ध अर्थात् निष्कम्प होता हुआ सबको अस्थिर करता हुआ स्थिर है। (वृक्ष इव) जिस प्रकार वृक्ष शाखा-पत्र-पुष्प-फलादिकों का धारण करता हुआ स्थित होता है, उसी प्रकार पृथिवी, सूर्यादिकों को धारण करता हुआ परमेश्वर व्याप्त करके स्थित होता है। यह पुरुष परमेश्वर एकाकी है, न तो कोई इसका सजातीय है और न कोई विजातीय ही है। क्योंकि उस पुरुष परमात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण किया हुआ है, इसकारण वह पुरुष परमेश्वर कहा जाता है। इस प्रकार यह मन्त्र निगमन कराता हुआ पर प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिये।]

Pustakam

'सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दातासि' इत्यादि। (श०ब्रा०७.५.२.१३)

(सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्।

(सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन् पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, सहस्रशीर्षा पुरुषः, (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन् वर्त्तन्ते, स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च। (स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, भूमिरिति भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदयोरुपलक्षणम् अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति। पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्चसूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति। अन्यच्च, पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च। एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यातिष्ठत्। एतस्मात् त्रयाद् बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः। अर्थाद् बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम्॥ १॥

(सहस्रशी०) सहस्र नाम है सम्पूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है, सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आँख और पग ठहरे रहे हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बँधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो (स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद्द०) दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है। पाँच स्थूल भूत और पाँच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और

दसमा जीव, और शरीर में जो हृदयदेश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहाता है। क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनानेवाला है॥१॥

पुरुष ही त्रिकालस्थ जगत् का उत्पत्तिकर्ता एवं मोक्षदाता

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥ (यजु०३१.२)

(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतम्) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादनेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति, तस्मात् स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात् कार्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम्॥ २॥

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा, और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न कोई दूसरा जगत् रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) जो मोक्ष है, उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है, और इससे अलग भी है। क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है, और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न करता है, और आप कभी जन्म नहीं लेता॥२॥

समस्त जगत् पुरुष का एकपाद तथा मोक्ष त्रिपाद

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्यायां॑श्च॒ पूरु॑षः।

पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि॥ ३॥ (यजु०३१.३)

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति, तावान्महिमा वेदितव्यः। एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते? अत्र ब्रूते—(ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति। किं तर्हि? अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते। अत्राह—(पादोऽस्य) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते, (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति, तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति। प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमिति। स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः सर्वप्रकाशकोऽस्ति॥ ३॥

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है, सो सब इस पुरुष का ही महिमा है।

प्रश्न—जब उसके महिमा का परिणाम है तो अन्त भी होगा?

उत्तर—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एकदेश में बसता है। (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है, सो उससे तिगुना है। तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है॥ ३॥

पुरुष की सामर्थ्य से जड़-चेतन जगत् की उत्पत्ति

Pustakam

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥ ४॥ (यजु०३१.४)

(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशाद् ऊर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात् पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः। एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति, तस्मादपीहास्मिन् संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति। स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति। अयं सर्वः संसार इहास्मिन् परमात्मन्येव वर्त्तते। पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति। तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः, परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते। (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते। किंच तत्? (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत् पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति॥ ४॥

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है, सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है। तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक, और सबसे अलग भी है। (पादोऽस्येहाभवत्पुनः) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित् मात्र देश में है। और जो इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश भी सदा होता रहता है। और पुरुष तो जन्म-विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है, और दूसरा अनशन, अर्थात् जड़, और भोजन

के लिये बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है, और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है, कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनाने वाला, संसार से सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके देख रहा है, और वह सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है॥४॥

उसी पुरुष की सामर्थ्य से विराट् (आकाश) की उत्पत्ति

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पू॑रुषः।

स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः॥५॥ (यजु०३१.५)

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैं राजमानः सन् विराट् अजायतोत्पन्नोऽस्ति (विराजो अधिपुरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक् पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत् (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात् स जीवोऽपि देहं धारितावानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति॥५॥

(ततो विराडजायत) विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य-चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह आकाश है, सो विराट् कहाता है। वह प्रथमस्वरूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है।

(विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं, और जो देह उसी पृथिवी आदि के अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट्, परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है॥५॥

चेतन व अचेतन समस्त जगत् पुरुष की सामर्थ्य से उत्पन्न

तस्मा॑द्य॒ज्ञात् स॑र्व॒हुतः॒ सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।

प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॒ना॒र॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये॥ ६॥ (यजु०३१.६)

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः। तस्मात् परमेश्वरात् (सम्भृतं पृषदाज्यम्) 'पृषु सेचने' धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत् पृषत्, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदस्ति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात् परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वरो एवोपास्यो, नान्यश्चेति। (पशूँस्ताँश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान् सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे। चकारादन्यान् सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति॥ ६॥

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (सम्भृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है। क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य

लोगों को उचित है कि उसको छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूँस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है। और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों को देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥६॥

चारों वेद उसी पूर्ण पुरुष से उत्पन्न

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥७॥ (यजु०३१.७)

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे॥७॥

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है॥७॥

(तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः) तस्मात् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दाꣳसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः। यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः। जज्ञिरे अजायतेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्। तथा [तस्मात्] तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्। वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्। 'यज्ञो वै विष्णुः' (श०ब्रा०१.१.२.१३) **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।'** (यजु० ५.१५) **इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः॥७॥**

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है, कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं। (तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख

देनेवाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्ववेद भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें। 'जज्ञिरे' और 'अजायत' इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त है, ऐसा जाना जाता है। वैसे ही 'तस्मात्' इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं। फिर 'छन्दांसि' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का और विष्णु शब्द सर्वव्यापक जो परमेश्वर है, उसीका ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं॥१॥

समस्त पशुओं की उत्पत्ति का कारण पुरुष

तस्मा॒दश्वा॑ऽअजायन्त॒ ये के चो॑भ॒यादः॑तः।

गावो॑ ह जज्ञि॒रे तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ताऽअ॑जा॒वयः॑॥८॥ (यजु०३१.८)

(तस्मादश्वा) तस्मात् परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः। (ये के चोभयादतः) उभयतो दन्तो येषां त उभयादतो, चे केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज०) तथा तस्मात् पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम्॥८॥

(तस्मादश्वा अजायन्त) उस पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली

आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुये हैं। (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दाँत होते हैं, उन पशुओं को 'उभयदत' कहते हैं, वे ऊँट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज०) उसीसे गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं॥८॥

सृष्टिपूर्व विद्यमान पूर्ण पुरुष ही पूज्य

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥९॥ (यजु०३१.९)

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षप्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः॥९॥

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने योग्य परमेश्वर को, जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से, (देवाः) विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं॥९॥

परमेश्वर के गुणों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्यं॑कल्पयन्।

मुख॒ं किम॑स्यासी॒त् किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ऽउच्येते॥ १०॥

—(यजु॰३१.१०)

(यत्पुरुषं व्य॰) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं, कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः, (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। (मुखं कि॰) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किं बाहू) बलवीर्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किमूरू) व्यापारादिमध्यगुणैः किमुत्पन्नमासीत्? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते? अस्योत्तरमाह॥ १०॥

(यत्पुरुषं॰) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य॰) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार का प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि उसमें चित्र-विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है? (किं बाहू) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है? (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है? (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि॥ १०॥

ब्रा॒ह्म॒णो॒ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः।

ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याꣳ शू॒द्रोऽअ॑जायत॥ ११॥

—(यजु॰३१.११)

(ब्राह्मणोऽस्य॰) अस्य पुरुषस्य मुखं, ये विद्यादयो मुख्यगुणाः

सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति, तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति। (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति। (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। (पद्भ्याꣳ शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते।

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः॥' (अष्टा०३.४.६)

इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते॥११॥

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्याꣳशूद्रो०) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग हैं, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है। इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे॥११॥

परमेश्वर के गुणों से चन्द्रमादि की उत्पत्ति

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।

श्रोत्रांद् वायुश्च प्राणश्च मुखांदग्निरजायत॥१२॥ (यजु०३१.१२)

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात् सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति, तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात् सूर्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति,

(श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति, वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुख्य ज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति॥ १२॥

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, और तेजरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश, और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियाँ भी अपने-अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है॥ १२॥

परमेश्वर के गुणों से अन्तरिक्ष, द्युलोकादि की उत्पत्ति

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२।।ऽअकल्पयन्॥ १३॥

—(यजु०३१.१३)

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात् सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत्। एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात् प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते, (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात् सामर्थ्यात् परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च, (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति, (तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात् सामर्थ्यादन्यान् सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान् पदार्थानकल्पयत् परमेश्वर उत्पादितवानस्ति॥ १३॥

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष, अर्थात् जो भूमि और सूर्य आदि लोकों के बीच में पोल है, सो भी नियत किया हुआ है। (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर

ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है। (तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उसमें बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है॥१३॥

ब्रह्माण्डयज्ञ की सामग्री

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः॥१४॥ (यजु॰३१.१४)

(यत्पुरुषेण॰) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद् यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते—(वसन्तो॰) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति। (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति॥१४॥

(यत्पुरुषेण॰) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसीको जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। (वसन्तो॰) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु। आश्विन और कार्तिक शरद् ऋतु। मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती हैं, यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहाँ रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये॥१४॥

ब्रह्माण्डयज्ञ की परिधि और समिधाएँ

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृताः।

दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम्॥ १५॥ (यजु०३१.१५)

(सप्तस्यास०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति। परिधिर्हि गोलोकस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः। अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति—समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः, वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः, सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च। एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः। (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत् बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्। दशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्। (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति, नैव कुर्वन्तीत्यर्थः॥ १५॥

(सप्तस्या०) ईश्वर ने एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल वायु, चौथा वृष्टिजल और पाँचवाँ वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रिः सप्त समिधः०) और इस ब्रह्माण्ड की

सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं, दूसरा श्रोत्र, तीसरा त्वचा, चौथा नेत्र, पांचमी जिह्वा, छठी नासिका, सातमी वाक्, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपस्थ जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं, बारहमा शब्द, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सबका देखने वाला और पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुन के और उसीके उपदेश से उसीके कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं। उसको छोड़के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना। और उसीके ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बाँधने से कल्याण जानते हैं॥१५॥

परमेश्वर के उपासकों को मोक्षप्राप्ति

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मा॑न्यासन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑: सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥१६॥

—(यजु०३१.१६)

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन्। न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किञ्चित्कर्म कर्त्तव्यमिति। (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च, महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति। कीदृशं तत्? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति। न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति, किन्तु तमेव समसेवन्त।

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सबके पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो-जो ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं, वे वे सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहाँ विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं, उसीको मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता॥१६॥

अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः, साधनाः, द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः॥' (निरु०१२.४१)

अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त। अग्निः पशुरासीत् तमेव देवा आलभन्त। सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो, यत्र पूर्वे पूर्वं भूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः। यद्वा सूर्यप्राणस्थानः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति॥१६॥

[यज्ञ अर्थात् अग्नि अर्थात् जीव या उसके अन्तःकरण से अग्नि अर्थात् परमेश्वर का यजन करते हैं। यह जीवरूप अग्नि ही पशु है, जिसका देवताओं ने आलभन

किया। अथवा सबकी उपकारक अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त भौतिक अग्नि के द्वारा भी यज्ञ का देवगण सेवन करते हैं। जहाँ साध्य को प्राप्त करने वाले ऋषि-मुनि मोक्ष के आनन्द में हैं। उसीको विचार के निरुक्तकार देवगणों को द्युस्थानी बतलाता है। द्युस्थान का तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, ऐसे परमेश्वर के स्थान में जो स्थित है, वह द्युस्थानी है। अथवा सूर्यप्राणस्थान अर्थात् विज्ञान की किरण है, वहीं पर देवगण रहते हैं।]

सृष्टि का रचयिता होने से पुरुष विश्वकर्मा और त्वष्टा

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
अस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १७॥

—(यजु०३१.१७)

(अद्भ्य संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता। एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः। अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादितः। आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च। विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणस्य स विश्वकर्मा, तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत् समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत्। तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति। तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत्। पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति। तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति। (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपमाज्ञां दत्तवान् मनुष्यायश्धर्मयुक्तेनैव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखमनुभवतु तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति॥ १७॥

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणु को मिला के पृथिवी रची

है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है। इससे सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था। (तस्य०) जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है, तब तब कार्य जगत् रूपगुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्वमा०) जब परमेश्वर ने मनुष्य शरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं, और ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है, और जो परमेश्वर ही की प्राप्ति रूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम देव होता है॥१७॥

उसी पूर्ण पुरुष परमेश्वर के ज्ञान से मुक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिं मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥१८॥

—(यजु०३१.१८)

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते?

(वेदाहमेतम्) प्रश्न—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है?

तदुत्तरमाह—यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं वृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाविद्यान्धकारात् परस्तात् पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा

कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हति। कुतः? (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यानन्दमेति प्राप्नोति, नैवातोऽन्यथेति। एवकारात् तमीश्वरं विहाय नैव कश्चिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित् कार्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्यो-पासना नैव कार्येति? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः॥१८॥

उत्तर—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता। क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसीकी उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये क्योंकि मोक्ष का देने वाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है। इसमें यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता॥१८॥

नाना रूपात्मक जगत् को उत्पन्न करता और उसमें रहता हुआ भी पुरुष अजन्मा

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।

तस्य॒ योनिं॑ परि॑ पश्यन्ति॒ धीरा॒स्तस्मि॑न् ह तस्थुर्भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥ १९॥

—(यजु०३१.१९)

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन्नित्यं चरति। तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विज्ञायते विशिष्टतयोत्पद्यते। (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं, धीरा ध्यानवन्तः (परिपश्यन्ति) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते। (तस्मिन् ह तस्थुर्भु०) यस्मिन् भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे। हेति निश्चयार्थे, तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः॥ १९॥

(प्रजापति०) जो प्रजा का अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है। (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं। (तस्मिन् ह त०) जिसमें ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म-मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं॥ १९॥

ज्ञान और मोक्ष प्रदाता परमेश्वर को नमन

यो दे॒वेभ्य॑ऽआ॒तप॑ति॒ यो दे॒वाना॑ पु॒रोहि॑तः।

पूर्वो॑ यो दे॒वेभ्यो॑ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये॥ २०॥ (यजु०३१.२०)

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च। यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः

पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति, (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु। यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति, तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु॥ २०॥

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उनके आत्माओं को प्रकाश में कर देता, और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करने वाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि कराने वाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो। और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम-प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं॥ २०॥

ब्रह्मज्ञान प्रदाता एवं आनन्दस्वरूप परमेश्वर के ज्ञान से इन्द्रियजयी

रुचं ब्राह्मं जनयंन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन् वशे॥ २१॥ (यजु०३१.२१)

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च। (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद् ब्रह्म विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति॥ २१॥

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि को बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से

ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं॥२१॥

शोभा और लक्ष्मीरूप परमेश्वर से मुक्ति की प्रार्थना

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्।
इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ऽइषाण सर्वलो॒कं म॑ऽइषाण॥ २२॥

—(यजु०३१.२२)

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत् सेवमाने स्तः। तथाहोरात्रे द्वे ते तव पार्श्वे पार्श्ववत् स्तः। ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद् वर्त्तेते सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वयि रूपवदस्ति। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तेते। तथैव यत्किञ्चित् सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः। हे विराडधिकरणेश्वर! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन् सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय। तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वराज्यं सिद्धं कुरु। एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण। हे भगवन्! पुरुष! पूर्णपरमेश्वर! सर्वशक्तिमन्! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि। दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय। सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान् करोत्विति। अत्र प्रमाणानि—

श्रीर्हि पशवः॥ (श०ब्रा०१.८.१.३६)

श्रीर्वै सोमः॥ (श०ब्रा०४.१.२.९)

श्रीर्वै राष्ट्रम्॥ (श०ब्रा०१३.२.९.२)

श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥ (श०ब्रा०१३.२.९.३)

लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिप्रे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः॥ (निरु०४.१०)

अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसङ्गतिरस्तीति बोध्यम्॥ २२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता॥

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! जो आपकी अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है, वे दोनों स्त्री के समान हैं। अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह 'पत्नी' शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया गया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं, तथा सूर्य और चन्द्रमा भी आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं, वे आपके रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली, ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है, इसी प्रकार पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में जो पोल है, सो मुख के सदृश है। (इष्णन्०) हे परमेश्वर! आपकी दया से (अमुं०) परलोक जो मोक्षसुख है, उसको हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो। तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊँ, वैसी कृपा, और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आपसे हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये॥ २२॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता॥

Pustakam

त्रिविध जगत् का उत्पत्ति परमेश्वर की सामर्थ्य से

यत्प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्वरू॑पम्।
कियं॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् कियत्तद् ब॑भूव॥ १॥

—(अथर्व०१०.७.८)

(यत्परमं०) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् यच्च (अवमम्) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव, (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति। योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः सः परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वर, (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद् बभूव। तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति॥ २॥

(यत्परमं०) जो उत्तम, मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है। उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है। और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है। और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे भी कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं। वह परमेश्वर सबको रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता॥ १॥

दे॒वाः पि॒तरो॑ मनुष्या॑ गन्धर्वाप्स॒रस॑श्च॒ ये।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑॥ २॥

—(अथर्व०११.७.२७)

(देवा०) देवा विद्वांसः सूर्यादयो लोकाश्च, (पितरः) ज्ञानिनः, (मनुष्याः) मननशीलाः (गन्धर्वाः) गानविद्याविदः सूर्यादयो वा, (अप्सरसः) एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते, (उच्छिष्टा०) ते सर्व

उच्छिष्टात् सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात् परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति। ये (दिवि देवा दिविश्रितः) दिवि देवाः सूर्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्र-पृथिव्यादयो लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति॥ २॥

(देवाः) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्यलोक भी, (पितरः) ज्ञानी अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सबकी स्त्रियाँ, ये सब लोग और दूसरे लोग भी, (उच्छिष्टा०) उसी ईश्वर की सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति।

वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु बहुत अधिक न हो जाय, इसलिये सृष्टिविद्याविषय संक्षेप में लिखा है।

इति सृष्टिविद्याविषयः

Pustakam

(९) अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति? अत्रोच्यते—वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव। तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् —

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य आदि सब लोक घूमते हैं, इस विषय में यह प्रमाण है—

पृथिवी, सूर्यादि समस्त लोक अपनी कक्षा में भ्रमणशील

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥

—(यजु०३.६)

अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम्।

(आयं गौः) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्यचन्द्रोऽन्यो लोका वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि। तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलं प्राप्ता सती तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्यश्च परितो याति। एवमेव सूर्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम्।

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का। वे सब अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है। क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है। और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है। और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर

घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उनके प्रति वे घूमते हैं। इस प्रकार से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते रहते हैं।

अत्र प्रमाणानि—

[इस विषय में प्रमाण हैं—]

गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्यैकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ॥ (निघ०१।१)

तथा च

[इसके अतिरिक्त और प्रमाण निम्न हैं—]

स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु॥ (निघ०१.४)

पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम्। (निरुक्ते २.१४)

‘गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति॥’ (निरु०२.५)

‘गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति॥’

—(निरु०२.१४)

‘सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते॥’

—(निरु०२.६)

‘स्वरादित्यो भवति॥’ (निरु०२.१४)

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी। ‘अद्भ्यः पृथिवी’ति

तैत्तिरीयोपनिषदि (ब्रह्मा०वल्ली अनु०१)। यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद्भवति तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद्दूरं गता, दूरं दूरं सूर्यात् गच्छतीति विज्ञेयम्। एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः॥१॥

[प्रतिक्षण भ्रमण करने के कारण पृथिवी का नाम 'गौ' है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका माता-पिता के तुल्य होता है। 'स्वः' शब्द से आदित्य का ग्रहण होता है, पिता विशेषण के कारण आदित्य इसके पिता के समान है, ऐसा निश्चय होता है। यह पृथिवी सूर्य से दूर-दूर गमन करती है। इसी प्रकार सभी लोक अपनी-अपनी कक्षा में वायु तथा ईश्वर की सत्ता के कारण धारित होकर भ्रमण करते हैं, यह सिद्धान्त है।]

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है। तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है॥१॥

पृथिवी द्वारा कक्षा में रहते हुए सूर्य के चारों ओर भ्रमण

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥२॥

—(ऋ०१०.६५.६)

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती, पर्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्व-स्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतम्) कथंभूतं मार्गं? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम्। (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती,

तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति॥ २॥

(या गौर्व०) जिस-जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता, और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है। अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिस के घूमने के लिये जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम से ही प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है। और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती, और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्रमादि गौ ही प्राणियों को वाणी का निमित्त भी हैं॥ १॥

चन्द्र द्वारा पृथिवी की परिक्रमा तथा सूर्य और पृथिवी के मध्य में भी

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ३॥

—(ऋ०८.४८.१३)

(त्वं सोम०)। अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति।

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः, सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति। कदाचित्सूर्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि।

[यह (सोमः) चन्द्रलोक (पितृभिः) पिता के समान पालक गुणों के साथ (संविदानः) सम्यक् ज्ञात होता हुआ भूमि के चारों ओर घूमता है। कभी भी यह चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के मध्य में भी भ्रमण करता हुआ आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ भाष्य करते समय स्पष्ट रूप से कहूँगा।]

तथा 'द्यावापृथिवी एजते' इति मन्त्रवर्णार्था द्यौः सूर्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम्॥३॥

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक, और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं॥३॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः॥

Pustakam

(१०) अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

सभी लोक सूर्य के आकर्षण में आबद्ध

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे।

आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ १॥ (ऋ०८.१२.२८)

(यदा ते०) अस्याभिप्रायः—सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति।

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य! यदा यस्मिन् काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च (ते) तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति। अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति॥ १॥

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर! आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते।

दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं। उनमें सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर विचल भी नहीं सकते॥ १॥

समस्त लोक सूर्य के आकर्षण से स्थिर

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥२॥ (ऋ०८.१२.२९)

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति।

हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति। अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च॥२॥

(यदा ते मारुती०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है, हे परमेश्वर! आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, यह आपके आकर्षणादि नियमों से, तथा सूर्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में वस रहे हैं॥२॥

समस्त लोक आकर्षण में स्थित

यदा सूर्य्यमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः।

आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥३॥ (ऋ०८.१२.३०)

(यदा सूर्य०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति॥३॥

(यदा सूर्य०) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनको धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है॥३॥

प्रकाश और अप्रकाशरूप सभी लोकों में आकर्षण-व्यवहार

व्यꣳस्तभ्नाद्रोदꣳसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावꣳदकृणोज्ज्योतिषा तमः।
वि चर्मꣳणीव धिषणेऽ अवर्त्तयद् वैश्वानरो विश्वꣳमधत्त वृष्ण्यꣳम्॥४॥

—(ऋ०६.८.३)

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वाल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति।

हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्यादिलोको [रोदसी] द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ [व्यस्तभ्नात्] स्तम्भितवानस्ति। अतो भवान् [मित्रः] मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। [अद्भुत] आश्चर्यस्वरूपः सः सवितादिलोको [ज्योतिषा] तमोऽन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति। [वावत्] तथैव [धिषणे] धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन [व्यवर्त्तयत्] विविधतयैवर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव? [चर्मणि] चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतः? [वृष्ण्यम्] वीर्यवद् [विश्वम्] सर्वं जगच्च सूर्यादिलोको [अधत्त] धारयति। सूर्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति॥४॥

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे

परमेश्वर! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने-अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करने वाले हैं, और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है, कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है, और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है॥४॥

परमात्मा और सूर्य के आकर्षणगुण से समस्त लोकों का पालन

आ कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ वर्त्त॑मानो नि॒वे॒श॒यं॑न्न॒मृ॒तं॑ मर्त्यं॑ च।
हि॒र॒ण्ययें॑न सवि॒ता रथे॒ना दे॒वो या॑ति॒ भुव॑नानि॒ पश्य॑न्॥५॥

—(यजु०३३.४३)

(आकृष्णेन०)। अभिप्रायः—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति। [सविता] परमात्मा सूर्यलोको वा [रजसा] सर्वैर्लोकैः सह [आकृष्णेन] आकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन? [हिरण्ययेन] ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन? [रथेन] रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन्? [मर्त्यम्] मनुष्यलोकम् [अमृतम्] सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां [निवेशयन्] व्यवस्थापयन् सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन् सन् सूर्यो वर्त्तमानोऽस्ति। स च सूर्यो [देवो] द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान् धारयति। तथा [पश्यन्] दर्शयन् सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः।

(आकृष्णेन०) अभिप्रायः—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्यलोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारणगुण से सहित वर्त्तते हैं। सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित 'रथेन' आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं। इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्यविज्ञान को सदैव प्रकाश करता है। और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता, और सब लोकों की व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है। वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जनाता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है।

सभी लोकों में आकर्षणशक्ति

अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात् सूर्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात् सर्वांल्लोकान् प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते। एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव। तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम्। रजो लोकानां नामास्ति। अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

'लोका रजांस्युच्यन्ते॥' (निरु०४.१९)

'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा॥' (निरु०९.११)

'विश्वानरस्यादित्यस्य॥' (निरु०१२.२१)

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते। इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम्॥५॥

इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में 'द्युभिरक्तुभिः' इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना-अपना आकर्षण है, और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहाँ लोकों का नाम 'रज' है। और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको 'रथ' कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेना। ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं॥५॥

इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः॥

Pustakam

(११) अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

चन्द्र और पृथिव्यादि लोकों का प्रकाशक सूर्य

सूर्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः—

स॒त्येनोत्त॑भिता॒ भूमि॒: सूर्य्ये॑णोत्त॑भिता॒ द्यौः।
ऋ॒तेना॑दि॒त्यास्ति॑ष्ठन्ति दि॒वि सोमो॒ अधि॑ श्रि॒तः॥ १॥

—(अथर्व०१४.१.१)

(सत्येनो०)। एषामभिप्रायः—अत चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्यः प्रकाशकोऽस्तीस्ति।

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं— एक तो प्रकाश करने वाले, दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं।

इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च। (सूर्येण) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोत्तभिता धारितः। (ऋतेन०) कालेन सूर्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति। (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन् प्रकाशितो भवति। अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम्॥ १॥

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्यलोक ने भी अन्य लोकों को धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है

सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं॥१॥

चन्द्रलोक के संयोग से आदित्यकिरण शीतल

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥ (अथर्व०१४.१.२)

(सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात्। तद्यथा, यावन्तोऽन्तरिक्षदेशे सूर्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात् ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन् वर्त्तत इति विज्ञेयम्॥२॥

(सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके, उससे उलट कर भूमि को प्राप्त होके बलवती होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस-जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस-उस देश में शीत भी अधिक होता है। जिस-जिस देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है, उस-उस देश में गर्मी भी कमती होती है। फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है। और जब उनके बीच में सूर्य की तेजोरूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलशाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है, और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं, और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है।

इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है॥२॥

सूर्य अपने तथा चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।

किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वा वपनं महत्॥३॥ (यजु०२३.९)

(कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति? कः पुनः प्रकाशितो जायते? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति? तथा बीजारोपणार्थं महक्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः॥३॥

(कः स्वि०)। इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से पहिला **प्रश्न**—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? दूसरा—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? तीसरा—शीत का औषध क्या है? और चौथा— कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है?॥३॥

सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४॥ (यजु०२३.१०)

एषां क्रमोत्तराणि—(सूर्य एकाकी०)। अस्मिन् संसारे सूर्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान् सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमा पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति॥४॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति।

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०)। (१) इस संसार में सूर्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता, और अपनी ही कील पर घूमता है, तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश

से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है। (४) और चौथा यह है—पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है।

वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उनमें से यह यहाँ एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे॥४॥

॥इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः॥

Pustakam

(१२) गणितविद्याविषयः

अङ्कगणित एवं बीजगणित

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च मे स॒प्त चं॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ऽएका॑दश च म॒ऽएका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ऽएक॑विꣳशतिश्च मे॒ऽएक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च म॒ऽएक॑त्रिꣳशच्च म॒ऽएक॑त्रिꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ १॥ (यजु०१८.२४)

अभिप्रायः—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति। (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२), यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३)॥ १॥

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखाभेद से तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अङ्क (१) जो संख्या है, सो दो बार गणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन (३) को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३X३=९ हुए॥ १॥

चत॑स्रश्च मे॒ऽष्टौ चं॑ मे॒ऽष्टौ चं॑ मे॒ द्वाद॑श च मे॒ द्वाद॑श च मे॒ षोड॑श च मे॒ षोड॑श च मे विꣳश॒तिश्च॑ मे विꣳश॒तिश्च॑ मे॒ चतु॑र्विꣳशतिश्च मे॒

चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्चं मे चत्वारिꣳशच्चं मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम्॥ २॥ (यजु०१८.२५)

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४), एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६), एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति। अन्यत् खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम्।

इसी प्रकार चार के साथ चार (४४), पाँच के साथ पाँच (५५), छः के साथ छः (६६), सात के साथ सात (७७), आठ के साथ आठ (८८) इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पाँच के साथ पाँच (५५), वैसे ही पाँच पाँच छः छः (५५६६) तथा तीन के साथ तीन तथा नव के साथ नव (३३९९) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है, क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्य को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये।

सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते। इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते।

और जो वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है, उसमें भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है। और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है, वह निश्चित और संख्यात पदार्थों में युक्त होती है।

ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि

विधानम् 'एका चेति।

***अ[१]—क[३]* इत्यादि संकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम्॥ २॥**

और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीज गणित होता है, सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। जैसे (अ+क) (अ-क) (अ÷क) इत्यादि संकेत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है।

अग्न[२] आ[३] याहि[१] वीतये[२] गृणानो[२] हव्यदातये[१]।

नि[२] होता[२] सत्सि[२] बर्हिषि[१]॥ (साम०छ०प्र०११.१)

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेति न्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्। एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते।

(अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है। और इसी प्रकार से तीसरा भी जो रेखागणित है सो भी वेदों से सिद्ध होता है॥ २॥

रेखागणित

इ॒यं वेदिः॒ परो॒ऽअन्तः॑ पृथि॒व्याऽअ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।

अ॒यꣳसोमो॒ वृष्णो॒ऽअश्व॑स्य॒ रेतो॑ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म॥ ३॥

—(यजु०२३.६२)

(इयं वेदिः०)। अभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु रेखागणितं प्रकाश्यत इति।

इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, श्येनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात् सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते। यश्चायं यज्ञो हि सङ्गमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य

भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति। (अयꣳ सो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादियुक्तोऽस्ति। (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति। (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम्। (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात् परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति॥३॥

(इयं वेदिः०)। अभिप्राय—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदों की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, श्येनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है, सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है, उसको परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है, उसको व्यास कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये, और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं॥३॥

प्रमा और परिधि

कासी॑त् प्र॒मा प्र॑ति॒मा किं नि॒दान॒माज्यं॒ किमा॑सीत् परि॒धिः क आ॑सीत्।
छन्दः॒ किमा॑सी॒त् प्रउ॑गं॒ किमु॒क्थं यद्दे॒वा दे॒वमय॑जन्त॒ विश्वे॑॥४॥

—(ऋ०१०.१३०.३)

(कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत्? सर्वस्येति शेषः। एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते, सा कासीत्? एवमेवास्य (किं निदानम्) कारणं किमस्ति? (आज्यम्०) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्? सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च? (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं क आसीत् गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावतो रेखा लभ्यते स परिधिरित्युच्यते। (छन्दः) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु किमासीत्? (प्रउगं०) ग्रहोक्थं

स्तोतव्यं किमासीत्? इति प्रश्नाः। एषामुत्तराणि—(यद्देवा दे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति, (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः।

(कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है? (निदानम्) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है? (आज्यम्) जगत् में जानने योग्य सारभूत क्या है? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है।

अत्रापि 'परिधि' शब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति। एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति॥४॥

इन मन्त्रों में भी 'प्रमा' और 'परिधि' आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्यावर्त्तदेश से सर्वत्र भूगोल में गई है॥४॥

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः॥

Pustakam

(१३) अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः

प्रार्थना : स्तुत्य के गुणों की प्राप्ति की भावना

स्तुतिविषयस्तु 'यो भूतं च' इत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च। अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते —

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥१॥ (यजु०१९.९)

अयमभिप्रायः—'तेजोऽसी'त्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम्।

'तेजोऽसी'त्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासना विषय हैं सो आगे लिखा जाता है। परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो 'यो भूतं च०' इत्यादि मन्त्रों में कुछ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे। यहाँ पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं—

(तेजोऽसि०) हे परमेश्वर! त्वं तेजोऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोऽसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि। (वीर्यमसि०) हे परमेश्वर! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादिवीर्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि। (बलम्०) हे महाबलेश्वर! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय। (ओजो०) हे परमेश्वर! त्वमोजोऽसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि। (मन्युरसि) हे परमेश्वर! त्वं मन्युर्दुष्टान् प्रति क्रोधकृदसिः मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान् प्रति मन्युं धेहि। (सहोऽसि०) हे सहनशीलेश्वर! त्वं सहोऽसि मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि। एवं कृपयैतदादिशुभान् गुणान् मह्यं देहीत्यर्थः॥१॥

Pustakam

(तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिए। (वीर्यमसि०) हे जगदीश्वर! आप अनन्त पराक्रम वाले हैं, मुझको भी पूर्ण पराक्रम कीजिए। (बलमसि०) हे अनन्त बल वाले महेश्वर! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिए। (ओजो०) हे सर्वशक्तिमान्! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिए। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करनेहारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझमें भी रखिये। (सहोऽसि०) हे सबके सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं, वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझको भी कीजिए। अर्थात् सब शुभ गुण मुझको देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये॥१॥

ईश्वर से ऐश्वर्य और इच्छापूर्ति की प्रार्थना

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।

अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः॥२॥ (यजु०२.१०)

(मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु तथाऽस्मांश्च पोषयतु। अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानानस्मान् सदा कृपया करोतु पालयतु च। (अस्मान् रायो०) तथा नोऽस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु। (सचन्ताम्) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान् करोतु। तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति। (अस्माकꣳ स०) तथा हे भगवन्! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु। मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः॥२॥

(मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्युक्त परमेश्वर! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिए। अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिए। (अस्मान् रा०) हे परम धन वाले ईश्वर! आप उत्तम राज्य और धन वाले हमको सदा के लिये कीजिए। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳ स०) हे भगवन्! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहें, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े-बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिए॥२॥

परमेश्वर से मेधा की प्रार्थना

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते।

तया॒ माम॒द्य मे॒धयाग्ने॑ मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑॥३॥ (यजु०३२.१४)

(यां मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु। का मेधेत्युच्यते—(देवगणाः०) विद्वत्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते। (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय। (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

(यां मेधां०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि— हे परमात्मन्! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिए कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आपकी उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनि जी ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं कि—

‘स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति

वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति॥' (निरु०८.२०)

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम्। (स्वा वागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वथा वाच्यम्। (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं, न परपदार्थं प्रति चेति। (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठु रीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्द-पर्यायार्थाः॥३॥

(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें। और 'स्वाहा' शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये॥३॥

धर्मनिष्ठों को परमात्मा का आशीर्वाद

स्थि॒रा वः॑ स॒न्त्वायु॑धा परा॒णुदे॑ वी॒ळू उ॒त प्र॑ति॒ष्कभे॑।
यु॒ष्माक॑मस्तु॒ तवि॑षी॒ पनी॑यसी॒ मा मर्त्य॑स्य मा॒यिनः॑॥४॥

—(ऋ०१.३९.२)

(स्थिरा वः०) अयमभिप्रायः—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम् —

हे मनुष्या! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशु-

ण्डीधनुर्बाणादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया च पराजयकरणाय सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषि सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु। येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्याद् दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्। (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि, किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद् ददामीत्यभिप्रायः॥ ४॥

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में उत्तम बल वाले हो। किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों। तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें। (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें। (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों। तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो। जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्तिराज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे। (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उनके लिये नहीं। किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो॥ ४॥

ईश्वर से प्रार्थना

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒

द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ पिन्वस्व। धर्मा॑सि सुधर्मा॒मे॑न्य॒स्मे नृ॒म्णानि॑ धारय॒ ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धा॑रय॒ विशं॑ धारय॥ ५॥ (यजु०३८.१४)

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन्! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु (ऊर्जे) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणां ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्तनस्मान् कुरु। (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीरवतः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु। (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु। (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु। (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोऽसि, तथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय, एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय, (विशं०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय। अर्थात् सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्। तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति॥ ५॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन्! (इषे०) हमारी शुभ कर्म करने की इच्छा हो, और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये। (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हमको सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिए। (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिए। अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों को करके ब्राह्मणवर्ण हों। (क्षत्राय०) हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेवा से युक्त हों, कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हमको कीजिए। (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों

से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिए कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों, (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहारे ईश्वर! आप न्यायकारी हैं, वैसे ही हमको भी न्यायकारी कीजिए। (अमे०) हे भगवन्! जैसे आप निर्वैर होके सब वर्त्तते हो, वैसे ही सबसे वैररहित हमको कीजिए। (अस्मे) हे परमकारुणिक! हमारे लिये (नृम्णानि०) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिए। (ब्रह्म०) हे परमेश्वर! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्या युक्त कीजिए। (क्षत्रं०) हमको अत्यन्त चतुर, शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिए। (विशं०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिए कि जिससे हम शुभ गुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों॥५॥

शिवसंकल्प

यज्जाग्रंतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

—(यजु०३४.१)

(यज्जाग्रतो दू०) यन्मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तां चैति, तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्, (एकम्) असहायं यन्मनोऽस्ति, हे ईश्वर! भवत्कृपया (तन्मे०) तन्मे मम मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु॥ ६॥

(यज्जाग्रतो) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर-दूर

घूमने वाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा (दैवं०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है, वैसे ही (तदु सु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला और एक है, (तन्मे०) हे परमेश्वर! ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपा से (शिवसं०) कल्याण करने वाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो। जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो॥ ६॥

समर्पण

वाजꣳश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०॥

—[यजु०१८.१]

एवमेव 'वाजश्च म' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम्। अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम्।

इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र ईश्वर के अर्थ सर्वस्व समर्पण करने के ही विधान में हैं। अर्थात् सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।

समर्पणः परमेश्वर के प्रति समर्पण और उससे सुख

आयुर्यज्ञेनं कल्पतां प्राणो यज्ञेनं कल्पतां चक्षुर्यज्ञेनं कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेनं कल्पतां वाग्यज्ञेनं कल्पतां मनो यज्ञेनं कल्पतामात्मा यज्ञेनं कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेनं कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेनं कल्पताꣳ स्वर्यज्ञेनं कल्पतां पृष्ठं यज्ञेनं कल्पतां यज्ञो यज्ञेनं कल्पताम्। स्तोमꣳश्च यजुꣳश्चऽऋक् च साम च बृहच्चं रथन्तरं चं। स्वर्देवाऽअगन्मामृतांऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअंभूम वेट् स्वाहा॥७॥ (यजु०१८.२९)

(आयुर्यज्ञेन०) 'यज्ञो वै विष्णुः' (श०ब्रा०१.१.२.१३) **वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः। हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति। यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु। एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), (श्रोत्रं), (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानम्, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, (धर्मः) न्यायः, (स्वः) सुखं, (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (साम) सामवेदाध्ययनम् चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः, शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु। येन वयं कृतज्ञाः स्याम। एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्। येन वयं (स्वर्देवा) सुखे प्रकाशिताः (अमृता) परमानन्दम्मोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम। तथा (प्रजापतेः प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात् परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति। एवं जाते (वेट् स्वाहा) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत उत्साहवन्तोऽभूम भवेम। मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि॥७॥**

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें। (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आँख, (श्रोत्रं०) जो श्रवणविद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्मा०) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वयं०) जो सब सुख, (पृष्ठं०) जो उत्तम

कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्) चकार से अथर्ववेद (बृहच्च) बड़े-बड़े सब पदार्थ और (रथन्तरं च) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो-जो फल अपने आधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें सन्देह नहीं। (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म) सब दिन के लिये प्राप्त हों। (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यस्वभाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्त्तें॥७॥

(इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः)

(१४) अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

उपासना और उसका लाभ

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥१॥

—(ऋ०५.८१.१)

(युञ्जते०) अस्याभिप्रायः—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते।

(विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य (बृहतः) अनन्तस्य (विपश्चितः) सर्वविद्यायुक्तस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति, (उत) अपि (धियो) बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे, तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः, (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या। कथंभूता स्तुतिः? (मही) महतीत्यर्थः। एवं कृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति॥१॥

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से कुछ संक्षेप से यहाँ भी लिखा जाता है—(युञ्जते मन०) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसीमें स्थिर करें।

और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े-बड़े बुद्धिमान् (होत्राः)

उपासनायोग के ग्रहण करने वाले हैं, वे (विप्रस्य) सबको जानने वाला, (बृहतः) सबसे बड़ा, (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक-ठीक युक्त करते हैं, तथा (उत धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश, और (सवितुः) सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है, कि (मही) सबसे बड़ी अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती॥१॥

योगी का लक्षण

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।

अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्यं पृथिव्याऽअध्याभरत्॥२॥ (यजु०११.१)

(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन्, (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय, प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते। (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगो स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्। इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम्॥२॥

(युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियः) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है॥२॥

उपासनायोग

युक्तेन॒ मन॑सा व॒यं दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। स्व॒र्ग्या॑य॒ शक्त्या॑॥ ३॥

—(यजु०११.२)

सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः—(स्वर्ग्याय) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ये (युक्तेन मनसाः०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति॥ ३॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (युक्त्वा) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों॥३॥

उपासनायोग से आनन्द और ज्ञान की प्राप्ति

यु॒क्त्वाय॑ं सवि॒ता दे॒वान्त्स्व॑र्य॒तो धि॒या दिव॑म्।

बृ॒हज्ज्योति॑ः करिष्य॒तः स॑वि॒ता प्रसु॑वाति॒ तान्॥ ४॥ (यजु०११.३)

एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग्युक्त्वा, (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशम् (दिवम्) दिव्यं स्वरूपं (प्रसुवाति) प्रकाशयति। तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति॥ ४॥

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देके (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को

करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है, वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा॥४॥

उपासना करने वालों को आशीर्वाद

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

—(यजु०११.५)

उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते—(ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासते, तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति—(श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वाम्) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु। कस्य केव? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति। ते (विश्वे०) सर्वे (वाम्) उपासनोपदेष्टृपदेश्यो द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु। इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामीति॥५॥

उपासना का उपदेश देने वाले और ग्रहण दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊँगा कि

(श्लोकः) सत्यकीर्त्ति (वाम्) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्यसेवा से सत्यकीर्त्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूँ कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आ ये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें सन्देह मत करो। इसीलिये (युजे) मैं तुमको उपासनायोग में युक्त करता हूँ॥५॥

उपासना से मुक्ति

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क्। धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या॥६॥

—(यजु०१२.६७)

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति। तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति, ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं (युञ्जन्ति) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥६॥

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग, और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं, वे (सीरा युञ्जन्ति पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं॥६॥

उपासनायोगवृत्ति से आत्मा में प्रकाश

यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म्।

गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ असन्नो॒ नेदी॑य॒ इत्सृ॑ण्य॒ः प॒क्वमेया॑त्॥७॥

—(यजु०१२.६८)

हे योगिनो! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत। एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वम्) विस्तारयत। तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि, (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत। एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत। तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त, युक्ता भवत। किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु। कथंभूतं फलम्? (पक्वम्) शुद्धानन्दसिद्धम्, (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्। (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति। इदिति निश्चयार्थे। पुनः कथंभूतास्ताः? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः। एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम्। अत्र प्रमाणम् —

श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति॥ (निरु०६.१२)

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च॥ (निरु०१३.५)

हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से, नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वम्) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञान (बीजम्) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें। और (नो नेदीयः) हमको

ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि (पक्वम्) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाशकरने वाली, और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो॥७॥

उपासनायोग से योग और क्षेम की प्राप्ति

अ॒ष्टा॒वि॒ंशानि॑ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि॑ स॒ह योग॑ं भजन्तु मे।
योग॒ं प्र प॑द्ये॒ क्षेम॑ं च क्षेम॒ं प्र प॑द्ये॒ योग॑ं च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु॥ ८॥

—(अथर्व०१९.८.२)

(अष्टाविंशानि) हे परमेश्वर! भवत् कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद् दशेन्द्रियाणि, दश प्राणा मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति। (शग्मानि) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्याम्) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र पद्ये) प्राप्य (क्षेमं च) प्रपद्ये क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते॥ ८॥

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आपकी कृपा से मुझको उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उससे मुझको सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें। तथा हम भी (योगं०) उस योग के द्वारा (क्षेमम्) रक्षा की और रक्षा से योग प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं॥८॥

इमे वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् —

[ये कहे जाने वाले मन्त्र अथर्ववेद के हैं, यह जानना चाहिये—]

विभु और प्रभु होने से परमात्मा उपास्य

भूया॒नरा॑त्या॒: शच्या॒: पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि

वि॒भूः प्र॒भूरि॑ति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥ ९॥ (अथर्व०१३.४.४७)

(इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि तथा (अरात्या०) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद् भूयान्निवारकोऽसि। (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थाश्चासि। (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वाम्) वयं सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्महे इति॥ ९॥

(भूयानरात्याः०) हे जगदीश्वर! आप (शच्याः) सब प्रज्ञा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं। तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं। तथा आपको (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः) सब सामर्थ्यवाले जान के हम लोग आपकी उपासना करते हैं॥९॥

अत्र प्रमाणम् —

वाचो नामसु शचीति पठितम्॥ (निघ०१.११) **तथा—**

कर्मणां नामसु शचीति पठितम्॥ (निघ०२.३) **तथा—**

प्रज्ञानामसु शचीति पठितम्॥ (निघ०३.९.९)

[निघण्टु के उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार शची का अर्थ वाणी, कर्म और प्रज्ञा है।]

परमेश्वर का उपदेश

नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत॥ १०॥ (अथर्व०१३.४.४८)

ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत। उपासक एवं जानीयाद् वदेच्च—हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु॥१०॥

(नमस्ते अस्तु०) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—हे उपासक लोगो! तुम मुझको प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो। तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हमको सदा देखिये। इसलिये हम लोग आपको नमस्कार करते हैं॥१०॥

परमेश्वर से ऐश्वर्य, यश, तेज वर्चस् की कामना

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥११॥ (अथर्व०१३.४.४९)

(अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनाय? अन्नादिराज्यैश्वर्येण, (यशसा) सर्वोत्तम-सत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येण च, (ब्राह्मणव-र्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सर्वदोपास्महे॥१०॥

(अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य, (यशसा) सबके उत्तम कीर्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये। इसलिये हम लोग सदा आपकी उपासना करते हैं॥११॥

महनीय आदि गुणों के कारण परमेश्वर उपास्य

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥१२॥

—(अथर्व०१३.४.५०)

हे ब्रह्मन्! (अम्भः) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् 'आप्लृ' धातो'रसुन्' प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः, (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः)

पूज्यं, सर्वेभ्यो महत्तरं, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण वयं सततं उपास्महे॥ १२॥

(अम्भः) हे भगवन्! आप सबमें व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं। तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं। (महः) सब के पूज्य, सबके बड़े और (सहः) सबके सहन करने वाले हैं। (इति) इस प्रकार का (त्वा) आपको जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं॥ १२॥

अम्भो॑ अरु॒णं र॑ज॒तं रजः॒ सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥ १३॥

—(अथर्व०१३.४.५१)

(अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः, अस्यार्थ उक्तः। (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम्, (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम्, (रजः) सर्वलोकैश्वर्यसहितम् (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति॥ १३॥

(अम्भः) दूसरी बार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है। (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के नाश करने वाले, तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु, आनन्दस्वरूप, (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और सहनशक्तिवाले हैं। इसलिये हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते हैं॥ १३॥

उ॒रुः पृथुः सु॒भूर्भु॑व॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥ १४॥ (अथर्व०१३.४.५२)

(उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः, (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति, सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा) त्वां (उपास्महे वयम्)।

(उरु) आप सब बलवाले, (पृथुः) अर्थात् आदि अन्तर हित, तथा (सुभूः) सब

पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सबके निवासस्थान हैं। इस कारण हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं॥ १४॥

'बहुनामसु उरुरिति प्रत्यक्षमस्ति॥ १४॥ (निघ०३.१.४)

['उरु' बहुवाचक है, यह स्पष्ट है।]

प्रथो॒ वरो॒ व्यचो॑ लो॒क इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम्॥ १५॥

—(अथर्व०१३.४.५१)

(प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः, (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे॥ १५॥

(प्रथो वरो०) हे परमात्मन्! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं॥ १५॥

मुक्ति का साधन

यु॒ञ्जन्ति॑ ब्र॒ध्नम॑रु॒षं चर॑न्तं॒ परि॑ त॒स्थुषः॑।

रोच॑न्ते रोच॒ना दि॒वि॥ १६॥ (ऋ०१.६.१)

(युञ्जन्ति०) ये योगिनो विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा (चरन्तम्) ज्ञातारं सर्वज्ञम्, (अरुषम्) अहिंसकं करुणामयम् 'रुष हिंसायाम्' (ब्रध्नम्) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं, महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन

प्रकाशन्ते। इति प्रथमोऽर्थः।

(युञ्जन्ति०) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तम्) अर्थात् सबका जानने वाला, (अरुषम्) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नम्) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूट के, (दिवि) आत्माओं का प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं।

अथ द्वितीयः—(परि त०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति। एते सर्वे तस्यैव। (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते। इति द्वितीयोऽर्थः।

अब दूसरा अर्थ करते हैं कि—(परितस्थुषः) जो सूर्यलोक, अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नम्) सबसे बड़ा और (अरुषम्) रक्तगुणयुक्त है, और जिसके आकर्षण करने के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिसके प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान् लोग उसीको सब लोकों के आकर्षणयुक्त जानते हैं। इति द्वितीयोऽर्थः।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नम्) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो (युञ्जन्ति) युक्तं कुर्वन्ति, अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे (रोचन्ते) सदैव प्रकाशन्ते।

(युञ्जन्ति०) इस मन्त्र का और तीसरा अर्थ यह भी है कि—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।

Pustakam

अत्र प्रमाणानि—

'मनुष्यनामसु तस्थुषः' पञ्चजनाः, इति पठितम्॥ (निघ०२.३)

महत् ब्रध्न महन्नामसु पठितम्॥ (निघ०३.३)

तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति। असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समृष्ट्यै॥ —(श०ब्रा०१३.२.५.१)

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः॥१॥ (प्रश्नो०१.५)

परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम्। तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति। एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च। क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च।

[परमेश्वर से महान् अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिये ब्रध्न पद के महत् अर्थ की संगति प्रथम अर्थ के साथ लगानी चाहिये। शतपथ का प्रमाण द्वितीय अर्थ के साथ और इसी प्रकार प्रश्नोपनिषत् के प्रमाण की संगति तृतीय अर्थ के साथ लगानी चाहिये। एक स्थान पर निघण्टु में ब्रध्न को अश्व का वाचक माना है, परन्तु प्रस्तुत मन्त्र में अश्वपरक अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि उसका शतपथ आदि व्याख्यानों और मूल अर्थ के साथ विरोध है। इसके अतिरिक्त अनेकार्थक होने पर भी एक स्थान पर शब्दों के अनेक अर्थों का ग्रहण नहीं होता है। {इसलिये प्रस्तुत स्थल पर ब्रध्न के अश्व अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा रहा है।}]

एवं सति भट्टमोक्षमूलरैरृग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद् भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति। परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणा-

यमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति॥ १६॥

इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं सो देख लेना। इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है, सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है॥ १६॥

उपासनाविधि

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते—तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरुपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चित्य, तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा—

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध, और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को [पुनः पुनः] नियुक्त करें। फिर उसीकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बारंबार करके, अपने आत्मा को भलीभाँति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

योग का लक्षण

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥१॥ (यो०सू०१.२)

उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति॥१॥

(योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं। और 'वियोग' उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंस के उससे दूर हो जाना॥१॥

योग में ध्यान का केन्द्र परमेश्वर

निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते—

प्रश्न—जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥२॥ (यो०सू०१.३)

यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते, तदास्योपासककस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते॥२॥

इसका उत्तर यह है कि—(तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बाँध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है॥२॥

योगभिन्न अवस्था में योगी की चित्त की वृत्ति

यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते, तदा सांसारिजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह—

Pustakam

[जब उपासक योगी उपासना को छोड़कर सांसारिक व्यवहार में प्रवृत्त होता है, उस समय उसकी प्रवृत्ति सांसारिक लोगों की तरह होती है या उससे विलक्षण। इस विषय में कहते हैं—]

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ३॥ (यो०सू०१.४)

इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति। नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति॥ ३॥

और दूसरा यह है कि—(वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है॥३॥

वृत्तियाँ पञ्चविध और उनके क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद

कति वृत्तयः सन्ति, कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह—

[वृत्तियाँ कितने प्रकार की होती हैं और कैसे उन्हें रोकना चाहिये—]

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ ४॥ (यो०सू०१.५)

(वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पाँच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त; परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित, और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती है॥४॥

Pustakam

वृत्तियों के प्रकार

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ५॥ (यो॰सू॰१.६)

वे पाँच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा) और पांचमी (स्मृति)॥५॥

प्रमाण

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ६॥ (यो॰सू॰१.७)

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—(तत्र प्रत्यक्षा॰) इसकी व्याख्या वेदविषय के होमप्रकरण में लिख दी है॥६॥

विपर्यय

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ७॥ (यो॰सू॰१.८)

(विपर्ययो॰) दूसरी 'विपर्यय' कि जिससे मिथ्याज्ञान हो, अर्थात् जैसे को तैसा न जानना। अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको 'विपर्यय' कहते हैं॥७॥

विकल्प

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ८॥ (यो॰सू॰१.९)

तीसरी, 'विकल्पवृत्ति' (शब्दज्ञाना॰) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है, सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं। सो झूठी बात है, अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसीसे इसका नाम 'विकल्प' है॥८॥

निद्रा

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ ९॥ (यो॰सू॰१.१०)

Pustakam

चौथी 'निद्रा' (अभाव०) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम 'निद्रा' है॥९॥

स्मृति

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः॥१०॥ (यो०सू०१.११)

पाँचवीं 'स्मृति' (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में रहता, और उस विषय को अप्रमोष=भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं॥१०॥

वृत्तियों के नियमन के उपाय

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥११॥ (यो०सू०१.१२)

इन पाँच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—(अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें। और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पाँच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना॥११॥

उपासना का परम सहायकारी साधन ईश्वर

उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते—

[उपासना की सिद्धि का परम सहायकारी साधन क्या है, इस विषय में कहते हैं—]

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥१२॥ (यो०सू०१.२४)

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्त्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः, आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति॥१२॥

तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि—(ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से, मन का समाधान होके, मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है॥१२॥

ईश्वर का लक्षण

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति—

[प्रधान और पुरुष से भिन्न यह ईश्वर कौन है? उत्तर देते हैं—]

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ १३॥

—(यो०सू०१.२५)

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—(क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना, इन सबसे जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को 'ईश्वर' कहते हैं॥ १३॥

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकास्तदनुगुणा वासना आशयाः, ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जय पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

[अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। कर्म दो प्रकार के हैं-कुशल (पुण्य) और अकुशल (पाप)। उक्त दो प्रकार के कर्मों का परिणाम विपाक है। उन कर्मफलों के अनुकूल बनने वाली वासनाएँ आशय हैं। और वे सब अविद्यादि क्लेश मन में वर्तमान रहते हुए भी पुरुष (जीवात्मा) में माने जाते हैं, क्योंकि वही इन फलों का भोग करने वाला है, ठीक उसी प्रकार जैसे जय-पराजय योद्धाओं में वर्तमान रहते हुए भी स्वामी राजा में व्यवहृत होती हैं। जो इस भोग से अछूता है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है।]

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

[कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त हुए बहुत से केवली (मुक्त पुरुष) हैं, क्योंकि वे तीनों (सत्त्व, रजस्, तमस्) बन्धनों को काटकर कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। ईश्वर का उक्त तीनों गुणों से सम्बन्ध न भूतकाल में हुआ है और न भविष्यत् काल में होने वाला है। जैसे मुक्त जीव की बन्धन की स्थिति ज्ञात होती है, उस प्रकार ईश्वर की नहीं। अथवा जैसै प्रकृतिलीन योगियों की चित्त के पूर्णतया निवृत्त न होने से भविष्य में बन्धन की स्थिति सम्भव होती है, उस प्रकार ईश्वर की नहीं, वह तो सर्वदा मुक्त, सर्वदा ही ईश्वर रहने वाला है।]

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।

[जो यह सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी अर्थात् सबसे बढ़कर ईश्वर का सर्वकालिक स्वरूप बताया गया है, वह क्या प्रमाणसहित है अथवा प्रमाणरहित है? उत्तर देते हैं कि उस ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र (वेद) प्रमाण है। फिर यह प्रश्न उठता है कि उक्त प्रकार का ईश्वर का स्वरूप मानने में शास्त्र (वेद) के पास क्या प्रमाण है? उत्तर है-ईश्वर का उत्कृष्ट बल निमित्त है।]

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्माद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशायि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः।

[ईश्वरसत्त्वे अर्थात् ईश्वर नित्य शुद्ध स्वरूप में वर्तमान रहता है, इस कारण शास्त्र का उत्कर्ष (सर्वश्रेष्ठत्व) और ईश्वर का उत्कर्ष (सर्वातिशायित्व) इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ईश्वर है, सदा मुक्त है। और उसका ऐश्वर्य अन्य किसी ऐश्वर्य की समानता और अधिकता से रहित है। वह ईश्वर का ऐश्वर्य किसी अन्य ऐश्वर्य से अतिक्रान्त नहीं किया जा सकता। जो सबसे

बढ़कर है, वही ईश्वर का ऐश्वर्य है। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वह ईश्वर है।]

न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स एवेश्वरः, स च पुरुषविशेष इति॥३॥

[इसके अतिरिक्त ईश्वर के समान अन्य किसी का ऐश्वर्य नहीं है। क्या कारण है कि ईश्वर के ऐश्वर्य के समान अन्य का ऐश्वर्य नहीं है? उत्तर-किसी एक ही अभीष्ट वस्तु में समान सामर्थ्य वाले दो पुरुषों में से एक कहे कि यह नवीन है, दूसरा कहे कि यह पुरातन है, इस प्रकार विरुद्ध कथन में एक का कथन सिद्ध होने पर अन्य के प्राकाम्य (कामना) का विघात होगा। क्योंकि तुल्य सामर्थ्य वालों को एक साथ अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती, विरुद्ध अर्थ होने के कारण। इस कारण जिसका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से रहित है, वह ईश्वर है, वही पुरुष विशेष है।]

ईश्वर का वैशिष्ट्य सर्वज्ञता

किं च—

[इसके अतिरिक्त वह ईश्वर—]

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥१४॥ (यो०सू०१.२५)

क्योंकि (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें॥१४॥

Pustakam

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्व-ज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात् परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति।

[जो यह भूतकालिक, भविष्यत्कालिक और वर्तमानकालिक पदार्थों में से किसी एक का या सामूहिक रूप में अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय की पहुँच से परे का ज्ञान है, वह किसी में अल्प और किसी में कुछ अधिक होता है, यह सर्वज्ञता का बीज है। यह इन्द्रियातीत ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, जिस पुरुष में सीमारहित होकर रहता है, वह सर्वज्ञ है। परिमाण के समान अतिशय से युक्त होने के कारण ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज की पराकाष्ठा है। (कहने का आशय यह है कि अणु निरतिशय अल्प है और आकाश निरतिशय महान्। न कोई अणु से आकार में न्यून है और न आकाश से महान्।) जैसे अणु और आकाश अपनी-अपनी दिशा में निरतिशय हैं, उसी प्रकार ज्ञान की चरमसीमा है। जहाँ ज्ञान की चरम सीमा है, वह सर्वज्ञ है और वही पुरुषविशेष है।]

सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमस्ति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् —ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्या-मीति। तथा चोक्तम् —आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति॥ १४॥

[अनुमान प्रमाण पदार्थ के सामान्य रूप का बोध कराकर निवृत्त हो जाता है, परन्तु वह विशेष ज्ञान को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। उस ईश्वर के संज्ञा आदि विशेष ज्ञान की सिद्धि आगम (वेद) से अन्वेषित करनी चाहिये। उस ईश्वर का (वेदादि शास्त्रों का उपदेश करने में) अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर अनुकम्पा करना प्रयोजन है। ज्ञान और धर्म के उपदेश के द्वारा कल्प, प्रलय,

महाप्रलय में संसारी पुरुषों का उद्धार करूँगा, यह प्रयोजन है। ऐसा कहा भी है- आदि विद्वान् परमर्षि भगवान् ने सृष्टिनिर्माण के संकल्पमय चित्त के आश्रय से करुणा के कारण जानने के इच्छुक आसुरि के लिये वेदशास्त्र का उपदेश दिया।]

ईश्वर सृष्टि के आदि में उत्पन्नों का भी गुरु

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥१५॥ (यो०सू०१.२६)

{यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनाम् इदानींतनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स 'गुरुः'। स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्य इति।}

{इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सबका गुरु परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति प्रचार ही नहीं है, और यह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उसकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान और सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।}

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते। यत्रावच्छेदनार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥१५॥

[निश्चय से पूर्वकाल के गुरु काल के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। जहाँ अवच्छेद=नाश के लिये काल उपस्थित नहीं होता, वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है। जैसे ईश्वर वर्तमान सृष्टि के आदिकाल में निरतिशय प्रकृष्ट ज्ञान आदि का आधार होने से सिद्ध है, वैसे पिछली सृष्टियों में भी ईश्वर को विद्यमान मानना चाहिये।]

ईश्वर का वाचक नाम प्रणव

तस्य वाचकः प्रणवः॥१६॥ (यो०सू०१.२७)

अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—(तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है,, सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है। और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उसमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है॥१६॥

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमति? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनाद्योत्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति।

[प्रणव (ओ३म्) का वाच्य ईश्वर है। क्या ईश्वर और प्रणव का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतकृत है या फिर प्रदीप और प्रकाश के समान स्थायी सम्बन्ध है? इस वाच्य रूप ईश्वर का वाचक रूप प्रणव के साथ सम्बन्ध पहले से ही स्थित है। ईश्वर का संकेत तो पूर्व से ही स्थित सम्बन्ध को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार पिता और पुत्र के पहले से ही स्थित सम्बन्ध को संकेत से बतलाया जाता है, जैसे यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है।]

सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्ति नित्यतया 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध' इत्यागमिनः प्रतिजानते॥१६॥

[अन्य सर्गों में भी वाच्य-वाचक शक्ति की अपेक्षा से ही उस प्रकार का नियत सम्बन्ध का संकेत किया जाता है। सदृश व्यवहार की परम्परा के नित्य होने से शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह वेद को मानने वाले आगम शास्त्रकार कहते हैं।]

प्रणवजप की विधि

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

[वाच्य-वाचक सम्बन्ध जानने वाले योगी को निम्न प्रकार प्रणव का जप करना चाहिये—]

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ १७॥ (यो०सू०१.२८)

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम् —

इसलिये (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय॥१७॥

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति॥ १७॥

[स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का उत्कर्ष होता है। इस प्रकार स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है।]

प्रणवजप का फल

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि—

किं चास्य भवति—

Pustakam

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥१८॥ (यो०सू०१.२९)

इससे मनुष्य को क्या होता है? (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है॥१८॥

ये तावदन्तरायाः, व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलः, अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति॥१८॥

[जो व्याधि इत्यादि योग के विघ्न हैं, वे ईश्वर प्रणिधान से नहीं होते हैं। इस ईश्वरप्रणिधान करने वाले को स्वरूप का दर्शन भी हो जाता है। जैसे पुरुष विशेष ईश्वर शुद्ध, पवित्र, अविद्यादि क्लेश से रहित होने से सर्वथा दुःखरहित, केवल अर्थात् त्रिगुणातीत, निर्विकार है, उसी प्रकार बुद्धि से होने वाले संवेदन का अनुभव करने वाला यह आत्मारूप पुरुष भी है, इस प्रकार से अपने स्वरूप को समझ लेता है॥]

चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्न

अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः। के पुनस्ते कियन्तो वेति—

[अब कौन से विघ्न हैं, यह आशङ्का होने पर उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं-]

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥१९॥ (यो०सू०१.३०)

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येते तेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः।

[चित्त को विक्षिप्त करने वाले ये नौ चित्त के विक्षेप हैं। ये नौ विघ्न चित्त की वृत्तियों के साथ होते हैं। इन विघ्नों का अभाव होने पर पूर्व कही गयीं चित्त की

वृत्तियाँ नहीं होतीं।]

व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्यज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्त्वं स्यादिति।

वे विघ्न नव प्रकार के हैं—(व्याधि०) एक (व्याधि) अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। दूसरा (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति। तीसरा (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना। चौथा (प्रमाद) अर्थात् समाधिस्थानों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। पाँचवाँ (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। छठा (अविरति) अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना। सातवाँ (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना। आठवाँ (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना। और नववाँ (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं॥१९॥

एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः, योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयते॥१९॥

[ये पूर्वोक्त चित्त के नौ विक्षेप योग के मल=दोष, योग के शत्रु तथा योग के विघ्न नाम से कहे जाते हैं।]

चित्त को विक्षिप्त करने वाले अन्य विघ्न

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥२०॥

—(यो०सू०१.३१)

अब इनके फल लिखते हैं—(दुःखदौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना शरीर के अवयवों का कंपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्त वाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्त को नहीं॥२०॥

दुःखमाध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं च। येनाभिहिताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते, तद्दुःखम्। दौर्मनस्यम् — इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति॥२०॥

[आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से दुःख तीन प्रकार का है। जिससे पीड़ित होकर व्यक्ति उसके नाश के लिये प्रवृत्त होते हैं, वह दुःख है। इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त में क्षोभ होना ही दौर्मनस्य है। जो शरीर के अङ्गों का स्थिर न होना अर्थात् कम्पन होना है, वह अङ्गमेजयत्व है। प्राण जो बाह्य वायु को पीता है, वह श्वास है और जो अन्दर की वायु को बाहर निकालता है, यह प्रश्वास है। ये दुःखादि पाँच विक्षेपों के साथ होने वाले हैं, क्योंकि ये विक्षिप्त चित्त में ही होते हैं। समाहित=एकाग्र चित्त में ये उक्त पाँच विक्षेप नहीं होते।]

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः, ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

[अब ये सभी व्याधि आदि विघ्न समाधि के शत्रु हैं, अतः उनको भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरोध करना चाहिये। इसलिये अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए निम्न सूत्र को कहते हैं-]

चित्त के विक्षेपों का शमन एक तत्त्व के अभ्यास से

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ २१॥ (यो०सू०१.३२)

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत्।

और उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—(तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है, उसीमें प्रेम और सर्वदा उसीकी आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में लिप्त पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें॥२१॥

यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं, तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्।

[जिसके मत में चित्त प्रत्येक पदार्थ के लिये पृथक्-पृथक् नियत है, ज्ञान एक क्षण तक रहने वाला है, उसके मत में सभी चित्त एकाग्र हैं, कोई भी चित्त विक्षिप्त नहीं है। जबकि चित्त को सब विषयों से हटाकर एक अर्थ में लगा दिया जाए, तब वह चित्त एकाग्र होता है। इसलिये यह चित्त प्रत्येक विषय के लिये पृथक्-पृथक् निश्चित नहीं है।]

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं, क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाहो वा विसदृशप्रत्ययप्रवाहो वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।

[जो सोचते हैं कि समान आकार के प्रत्यय(ज्ञान)प्रवाह के द्वारा चित्त एकाग्र होता है, उनके मत के अनुसार एकाग्रता को यदि प्रवाह चित्त का धर्म कहा जाए तो वह भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि चित्त की क्षणिकता के कारण एक प्रवाहचित्त की सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रवाह के अंशस्वरूप

एक-एक प्रत्यय का धर्म कहने से वह प्रत्ययप्रवाह समान आकार प्रत्ययों का प्रवाह हो या फिर असमान आकार प्रत्ययों का प्रवाह, प्रत्ययसमूह के प्रत्यर्थनियत होने से सभी प्रत्यय एकाग्र हो जायेंगे, अतः वैसा होने पर विक्षिप्त चित्त की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये चित्त एक है तथा वह अनेक विषयों में अवस्थित है।]

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचित्तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्। कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति।

[यदि एक चित्त के साथ असम्बद्ध, स्वभाव से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, तब अन्य चित्त के देखे हुए प्रत्यय का अन्य चित्त स्मरण करने वाला कैसे हो सकता है? और अन्य चित्त के द्वारा संचित कर्माशय का भोक्ता अन्य चित्त कैसे होगा? किसी प्रकार इस दोष का समाधान कर दिये जाने पर भी यह क्षणिक चित्त का सिद्धान्त गोमयपायसीय न्याय को भी परास्त कर देता है।]

किं च स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथम् यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्पार्क्षं तत्पश्यामीति। अहमिति प्रत्ययः (सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एक प्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माहमिति प्रत्ययः) कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः। सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्?

[इसके अतिरिक्त विषय की भिन्नता के साथ-साथ चित्त भी भिन्न हो जाता है, यह मानने पर अपना अनुभव ही मिथ्या हो जाता है। कैसे? जिसको मैंने देखा था, उसीको स्पर्श कर रहा हूँ, जिसको स्पर्श किया था, उसीको देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान समस्त विषयों के भिन्न होने पर भी ज्ञाता के अभिन्न होने पर होता है। अभेद रूप में अनुभव में आने वाला यह अहंरूप प्रत्यय कैसे अत्यन्त भिन्न चित्तों में वर्तमान एक सामान्य ज्ञाता का आश्रय ग्रहण करेगा?]

स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्॥ २१॥

[अपने प्रत्यक्ष अनुभव से समझ में आने वाला ज्ञान यह है कि देखने और स्पर्श करने वाला एक मैं ही हूँ। प्रत्यक्ष की महत्ता किसी अन्य प्रमाण से अभिभूत नहीं की जा सकती, जितने भी अन्य प्रमाण हैं, वे प्रत्यक्ष के बल से ही व्यवहार में आ पाते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि चित्त एक है, उस एक चित्त में अनेक विषय स्थित रहते हैं।]

चित्त को निर्मल करने की विधि

यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्?—

आगे जिस भावना से उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात-श्चित्तप्रसादनम्॥ २२॥ (यो०सू०१.३३)

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्री भावयेत्, दुःखितेषु करुणा, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते॥ २२॥

(मैत्री०) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना। दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी। पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता। पापियों के साथ उपेक्षा, अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और वैर ही करना। इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है॥ २२॥

चित्त को निर्मल करने का अन्य उपाय :- प्राणायाम

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ २३॥ (यो०सू०१.३४)

कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया॥ २३॥

(प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके, उतना ही बाहर रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करें। इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है। और प्राण के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारंबार मग्न करना चाहिये॥ २३॥

योगाङ्गों के अनुष्ठान का लाभ

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २४॥

—(यो०सू०२.२८)

एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति॥ २४॥

(योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥ २४॥

योग के आठ अङ्ग

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २५॥

—(यो०सू०२.२९)

(यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पाँचवाँ (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवाँ (ध्यान) और आठवाँ (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं। और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है॥ २५॥

यम

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ २६॥ (यो०सू०२.३०)

(तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है। सो पाँच प्रकार का है— एक (अहिंसा०) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरी त्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना; और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना; परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना; सदा ऋतुगामी होना; विद्या को ठीक-ठीक पढ़ के सदा पढ़ाते रहना; और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पाँचवाँ (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना। इन पाँचों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है॥ २६॥

अहिंसा

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम् —स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते

तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदात-रूपामहिंसां करोति। [व्या०भा०यो०सू०२.३०]

[(तत्र) उपरि परिगणित यमों में से (सर्वथा) सब प्रकार (मन, वाणी और कर्म) से (सर्वदा) सब काल में (सर्वभूतानाम्) समस्त प्राणियों के प्रति (अनभिद्रोहः) द्रोह के भाव को न रखना (अहिंसा) अहिंसा है। (च) और (उत्तरे) अहिंसा के बाद कहे गये शेष (यमनियमाः) यम-नियम (तन्मूलाः) अहिंसामूलक अर्थात् अहिंसा पर ही आश्रित हैं, (तत्सिद्धिपरतयैव) अहिंसा की सिद्धि के लिये ही और (तत्प्रतिपादनाय) उसका प्रतिपादन करने के लिये (प्रतिपाद्यन्ते) कहे गये हैं। (तत्) उस अहिंसा को (अवदातरूपकरणाय) निर्मल करने के लिये (एव) ही (उपादीयन्ते) अन्य यम-नियमों का अनुष्ठान किया जाता है। (तथा चोक्तम्) वैसा कहा भी है-(स खल्वयं ब्राह्मणः) वह योगसाधक ब्राह्मण (यथा यथा) जैसे-जैसे (बहूनि) बहुत से (व्रतानि) यम-नियम आदि व्रतों को (समादित्सते) अपनाना चाहता है, (तथा तथा) वैसे-वैसे (प्रमादकृतेभ्यः) असावधानी के कारण किये गये (हिंसानिदानेभ्यः) हिंसा के कारणों से (निवर्तमानः) पराङ्मुख होता हुआ (तामेव) उसी (अहिंसाम्) अहिंसा को ही (अवदातरूपाम्) शुद्ध रूप में (करोति) अपनाता है।]

सत्य

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेत्, इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। [व्या०भा०यो०सू०२.३०]

[(यथार्थे) जो पदार्थ जैसा है वैसा ही (वाङ्मनसे) वाणी और मन का होना (सत्यम्) सत्य कहाता है। (यथा) जैसा इन्द्रियों से (दृष्टम्) देखा, (यथा) जैसा

(अनुमितम्) अनुमान से जाना और (यथा) जैसा (श्रुतम्) कान से सुना, (तथा) उसी प्रकार (वाङ्मनः) वाणी और मन का होना सत्य है। (परत्र) अन्य व्यक्तियों के विषय में (स्वबोधसङ्क्रान्तये) अपने बोध को पहुँचाने के लिये (वागुक्ता) जो वाणी बोली गयी है, (सा) वह वाणी (यदि) यदि (वञ्चिता) ठगने वाली, (वा) अथवा (भ्रान्ता) भ्रम में डालने वाली, (वा) अथवा (प्रतिपत्तिवन्ध्या) अपने मन्तव्य को व्यक्त करने में (न भवेदिति) असमर्थ न हो तब वह सत्य है। (एषा) ऐसी सत्य वाणी (सर्वभूतोपकारार्थम्) समस्त प्राणियों के उपकार के लिये (प्रवृत्ता) प्रवृत्त हो (न) न कि (भूतोपघाताय) प्राणियों के विनाश या पीड़ा देने के लिये। (च) और (यदि) यदि (एवम्) इस प्रकार वञ्चना तथा भ्रम से रहित एवं ज्ञानबोधक वाणी (अभिधीयमाना) कहे जाने पर (अपि) भी (भूतोपघातपरैव) प्राणियों के अपकार के लिये ही (स्यात्) हो तो (सत्यम्) वह सत्य (न भवेत्) नहीं है, (पापमेव भवेत्) पाप ही है। (तेन) उस (पुण्याभासेन) पुण्य का आभास देने वाली, (पुण्यप्रतिरूपकेण) पुण्य के समान प्रतीत होने वाली वाणी से (कष्टतमम्) अत्यन्त दुःख (प्राप्नुयात्) प्राप्त होगा। (तस्मात्) इसलिये (परीक्ष्य) वाणी की परीक्षा करके (सर्वभूतहितम्) सभी प्राणियों के लिये हितकारी (सत्यम्) सत्य को (ब्रूयात्) बोलना चाहिये।]

अस्तेय

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। [व्या०भा०यो०सू०२.३०]

[(अशास्त्रपूर्वकम्) शास्त्रों में किये गये विधान से विपरीत (परतः) दूसरों के (द्रव्याणाम्) पदार्थों का (स्वीकरणम्) स्वीकार करना (स्तेयम्) स्तेय अर्थात् चोरी है। (पुनः) और (तत्प्रतिषेधः) उसका अभाव होना अर्थात् (अस्पृहारूपम्) मन से भी किसी के द्रव्य के ग्रहण करने की इच्छा का न होना (अस्तेयमिति) अस्तेय है।]

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। [व्या०भा०यो०सू०२.३०]

[(गुप्तेन्द्रियस्य) गुप्तेन्द्रिय अर्थात् (उपस्थस्य) जननेन्द्रिय का (संयमः) संयम करना (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य है।]

अपरिग्रह

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते। [व्या०भा०यो०सू०२.३०]

[(विषयाणाम्) विषयों अर्थात् भोग्य पदार्थों के (अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसा-दोषदर्शनात्) अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा, दोषों को देखकर उनको (अस्वीकरणम्) स्वीकार न करना (अपरिग्रहः) अपरिग्रह है। इनका विस्तृत विवरण प्राकृतभाषा में कहा जायेगा।]

नियम

दूसरा अङ्ग उपासना का 'नियम' है जो कि पांच प्रकार का है—

ते तु—

[वे नियम निम्न हैं—]

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ २७॥

—(यो०सू०२.३२)

शौचं, बाह्याभ्यन्तरं च। बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम्। सन्तोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया। तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। (स्वाध्यायः) वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पण-मित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम्॥ । २७॥

पहिला (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की

और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना-पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। तीसरा (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना और पाँचवाँ (ईश्वरप्रणिधान) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना। ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग हैं॥ २७॥

यमों और नियमों के अनुष्ठान का फल

अब पाँच यम और पाँच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—

अहिंसा के अनुपालन का फल

अथाहिंसाधर्मस्य फलम् —

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ २८॥ (यो॰सू॰२.३५)

(अहिंसाप्र॰) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन में वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है॥ २८॥

सत्य के अनुपालन का फल

अथ सत्याचरणस्य फलम् —

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ २९॥ (यो॰सू॰२.३६)

(सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं॥२९॥

अस्तेय में प्रतिष्ठित होने का फल

अथ चौरीत्यागफलम् —

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥३०॥ (यो०सू०२.३७)

चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम-उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और 'चोरी' इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना॥३०॥

ब्रह्मचर्य के अनुपालन का फल

अथ ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभते तदुच्यते ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥३१॥ (यो०सू०२.३८)

(ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन, कर्म, वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥३१॥

अपरिग्रह के अनुपालन का फल

अथापरिग्रहफलमुच्यते—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः॥३२॥ (यो०सू०२.३९)

(अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर

सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पाँच यम कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये॥३२॥

नियमों के अनुपालन का फल

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है, और जिनका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पाँच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

शौच के अनुपालन का फल

अथ शौचानुष्ठानफलम् —

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ३३॥ (यो०सू०२.४०)

(शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर-भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है॥३३॥

शौच के अनुपालन का द्वितीय फल

किंच

[इसके अतिरिक्त]

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ३४॥

—(यो०सू०२.४१)

और उसका फल यह है कि—(किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात्

जानने की योग्यता प्राप्त होती है॥३४॥

संतोष के अनुपालन का फल

संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥३५॥ (यो०सू०२.४२)

तदनन्तर (सन्तोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है। और उसी को 'मोक्षसुख' कहते हैं॥३५॥

तप के अनुष्ठान का फल

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥३६॥ (यो०सू०२.४३)

(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं॥३६॥

स्वाध्याय के अनुष्ठान का फल

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः॥३७॥ (यो०सू०२.४४)

तथा (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है॥३७॥

समाधि का फल

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥३८॥ (यो०सू०२.४५)

तथा (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है॥३८॥ तथा—

आसन

तत्र स्थिरसुखमासनम्॥३९॥ (यो०सू०२.४६)

Pustakam

(तथा) (तत्र स्थिर०) अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको 'आसन' कहते हैं। अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे॥३९॥

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि। पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात्॥ ३९॥ [व्या०भा०यो०सू०२.४६]

[(तद्यथा) जैसे कि (पद्मासनम्) पद्मासन, (वीरासनम्) वीरासन, (भद्रासनम्) भद्रासन, (स्वस्तिकम्) स्वस्तिकासन, (दण्डासनम्) दण्डासन, (सोपाश्रयम्) सहारे के साथ आसन, (पर्यङ्कम्) पर्यङ्कासन, (क्रौञ्चनिषदनम्) क्रौञ्च पक्षी के समान बैठना, (हस्तिनिषदनम्) हाथी के समान बैठना, (उष्ट्रनिषदनम्) ऊँट के समान बैठना, (समसंस्थानम्) समसंस्थान (इति एवम् आदीनि) इस प्रकार के आसन सुखपूर्वक बैठने की मुद्राएँ हैं। (स्थिरसुखम्) ये सभी स्थिरता और सुख देने वाले हैं, (यथासुखम्) जिस में सुखपूर्वक बैठा जा सके, उसीका अभ्यास करना चाहिये।]

आसनजय का फल

ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ४०॥ (यो०सू०२.४८)

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते॥ ४०॥

(ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है, और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है॥४०॥

प्राणायाम

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ ४१॥

—(यो०सू०२.४९)

(तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको 'श्वास' और जो

भीतर से बाहर जाता है, उसको 'प्रश्वास' कहते हैं। उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं॥ ४१॥

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः। [व्या०भा०यो०सू०२.४९]

(सति आसनजये) आसन के सिद्ध हो जाने पर (बाह्यस्य) बाहर की (वायोः) वायु को (आचमनम्) नाक से ग्रहण करना (श्वासः) श्वास है और (कोष्ठ्यस्य) उदर में स्थित (वायोः) वायु को (निःसारणम्) बाहर निकालना (प्रश्वासः) प्रश्वास है। (तयोः) उन दोनों श्वास और प्रश्वास की (गतिविच्छेदः) गति का विच्छेद करना अर्थात् (उभयाभावः) दोनों को रोक देना (प्राणायामः] प्राणायाम कहा जाता है।

आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः॥ ४१॥

[आसन के सम्यक् सिद्ध करने के उपरान्त बाहर और अन्दर जाने के स्वभाव वाले वायु को युक्तिपूर्वक शनैः शनैः अभ्यास से जय अर्थात् स्थिर करना अर्थात् श्वासगति का अवरुद्ध हो जाना प्राणायाम कहलाता है।]

प्राणायाम के प्रकार

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ ४२॥

—(यो०सू०२.५०)

और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है—(स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति॥ ४२॥

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृतप्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते

न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति।

—[व्या०भा०यो०सू०२.५१]

[(यत्र) जिस प्राणायाम में (प्रश्वासपूर्वकः) वायु को बाहर निकाल कर (गत्यभावः) श्वास की गति अवरुद्ध की जाती है, (सः) वह (बाह्यः) बाह्यवृत्ति प्राणायाम है।]

[(यत्र) जिस प्राणायाम में (श्वासपूर्वकः) बाहर की वायु को भीतर लेकर (गत्यभावः) श्वास की गति अवरुद्ध की जाती है, (सः) वह (आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम है।]

[(तृतीयः) तीसरा प्राणायाम (स्तम्भवृत्तिः) स्तम्भवृत्ति है, (यत्र) जिसमें (उभयाभावः) श्वास और प्रश्वास दोनों की गतियों का अभाव (सकृत्) एक साथ (प्रयत्नाद्) प्रयत्न करने से (भवति) हो जाता है, (यथा) जैसे (तप्ते) तप्त हुए (उपले) पत्थर पर (न्यस्तम्) डाला हुआ (जलम्) जल (सर्वतः) सब ओर (सङ्कोचम्) संकुचित (आपद्यते) हो जाता है, (तथा) उसी प्रकार स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में (द्वयोः) श्वास और प्रश्वास दोनों की (गत्यभावः) गतियों का अभाव (युगपत्) एक साथ [इति] हो जाता है।]

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति। किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः। तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः॥ ४२॥

[बालबुद्धि लोगों के द्वारा अंगुलि और अंगूठे से नासिका छिद्र को बन्द करके

जो प्राणायाम किया जाता है, वह समझदार लोगों नहीं करना चाहिये। किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गों को शान्त और शिथिल कर लेने पर, जब सभी अङ्ग कम्पनरहित हो जायें, तब बाहर गये प्राण को सामर्थ्य के अनुसार बाहर ही रोक कर प्रथम बाह्य नामक प्राणायाम करना चाहिये। उसी प्रकार साधक बाहर से अन्दर आये हुए श्वास को यथाशक्ति अन्दर ही रोक लेता है, ऐसे आभ्यन्तर नामक द्वितीय प्राणायाम का सेवन करना चाहिये। इसी प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायाम कर लेने पर, बाहर और अन्दर पर बल न देते हुए प्राण को एक साथ जहाँ का तहाँ रोक कर स्तम्भवृत्ति नामक तृतीय प्राणायाम करना चाहिये।]

प्राणायाम का चतुर्थ भेद

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ४३॥ (यो०सू०२.५१)

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाऽऽभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। [व्या०भा०यो०सू०२.५१]

[(बाह्यविषयः) बाह्यवृत्ति प्राणायाम (देशकालसङ्ख्याभिः) देश, काल और संख्या की दृष्टि से (परिदृष्टः) परिदृष्ट अर्थात् (आक्षिप्तः) व्याप्त है, (तथा) उसी प्रकार (आभ्यन्तर-विषय-परिदृष्टः) आभ्यन्तर प्राणायाम भी देश, काल और संख्या की दृष्टि से परिदृष्ट अर्थात् (आक्षिप्तः) व्याप्त है। (उभयथा) बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों प्राणायाम (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ (लम्बे) और सूक्ष्म (अप्रतीयमान से) होते हैं। (तत्पूर्वकः) बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायाम के अभ्यास सहित (क्रमेण) क्रम से (भूमिजयात्) अवस्थाविशेष की प्राप्ति होने पर (उभयोः) श्वास-प्रश्वास दोनों की (गत्यभावः) गति का अभाव हो जाता है, वह (चतुर्थः) चतुर्थ (प्राणायामः) प्राणायाम है।]

तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः

परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः, इत्ययं विशेष इति।

—[व्या०भा०यो०सू०२.५१]

[(तु) परन्तु (तृतीयः) तीसरा स्तम्भवृत्ति प्राणायाम (विषयानालोचितः) बाह्य और आभ्यन्तर विषय का ध्यान न रखते हुए श्वास-प्रश्वास की (गत्यभावः) गति का अभाव (सकृत् एव) एक ही बार (आरब्धः) विना किसी पूर्व अभ्यास के किया गया, (देशकालसङ्ख्याभिः) देश, काल और संख्या के द्वारा (परिदृष्टः) मापा हुआ (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है।]

[(तु) लेकिन (चतुर्थः) चतुर्थ बाह्याभ्यन्तराक्षेपी नाम वाले प्राणायाम में (श्वास-प्रश्वासयोः) श्वास-प्रश्वास की (विषयावधारणात्) देश, काल और संख्या निश्चित होने से (क्रमेण) क्रमशः (भूमिजयात्) अवस्थाविशेष की प्राप्ति और उससे (उभयाक्षेपपूर्वकः) श्वास-प्रश्वास दोनों के अतिक्रमण के साथ (गत्यभावः) गति का अभाव हो जाना ही (चतुर्थः) चतुर्थ (प्राणायामः) प्राणायाम है, (इति अयम् विशेषः) यही इसकी विशेषता है।]

यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते। तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं सलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः। पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत् तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत् स द्वितीयः। एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते, स चतुर्थः प्राणायामः। यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत् स्तम्भनीयाः। यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्यमित्यर्थः॥ ४३॥

और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है। अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इसका विषय। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे, उसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब

बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहाँ का तहाँ ज्यों का त्यों एकदम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे॥४३॥

प्राणायाम के अनुष्ठान का प्रथम लाभ

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥४४॥ (यो०सू०२.५२)

एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यम् अज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति॥४४॥

(ततः०) इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांपने वाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है॥४४॥

प्राणायाम के अनुष्ठान का द्वितीय लाभ

किंच—

[इसके अतिरिक्त प्राणायाम के अनुष्ठान का द्वितीय लाभ है—]

धारणासु च योग्यता मनसः॥४५॥ (यो०सू०२.५३)

प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्ये'ति वचनात्। प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग् योग्यता भवति॥४५॥

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—(किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से, मोक्षपर्यन्त उपासना योग और ज्ञान की योग्यता

बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना॥ ४५॥

प्रत्याहार

अथ कः प्रत्याहारः—

[प्रत्याहार किसे कहते हैं—]

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ४६॥

—(यो॰सू॰२.५४)

यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद् विषयान्तरे नैव गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यपि, अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्॥ ४६॥

(स्वविषया॰) 'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, [फिर वह परमेश्वर के स्मरण के आलम्बन के कारण विषयान्तर में नहीं जाता है,] तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलानेवाला है। [किसका और किनके समान? जिस प्रकार चित्त परमेश्वर के स्वरूप में स्थित होता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी परमेश्वर में स्थित हो जाती हैं अर्थात् चित्त के जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ भी जीत ली जाती हैं।]॥ ४६॥

प्रत्याहार की सिद्धि का लाभ

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ४७॥ (यो॰सू॰२.५५)

ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात् स्वस्वविषयान्निवृतौ सत्यामिन्द्रियाणां परमावश्यता यथावद्विजयो जायते। स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते, तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति॥ ४७॥

(ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसीमें ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं॥४७॥

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥४८॥ (यो०सू०३.१)

नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा। बाह्यविषये अर्थादोंकारे बिन्दौ वा॥४८॥

(देशब०) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पाँचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके, ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना॥४८॥

ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥४९॥ (यो०सू०३.२)

तथा (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसीका नाम 'ध्यान' है॥४९॥

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः

Pustakam

प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्॥ ४९॥

[(तस्मिन्) उस धारणा के (देशे) देश में (ध्येयालम्बनस्य) ध्येय आलम्बन के (प्रत्ययस्य) ज्ञान की (एकतानता) एकरूपता (निरन्तरता) का (सदृशः प्रवाहः) समान प्रवाह अर्थात् (प्रत्ययान्तरेण) जो अन्य किसी भी प्रकार के ज्ञान से (अपरामृष्टः) अछूता रहे, वह (ध्यानम्) ध्यान है।]

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ५०॥ (यो०सू०३.३)

ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति। समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति॥ ५०॥

इन सात अङ्ग का फल समाधि है—(तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है॥५०॥

संयम

त्रयमेकत्र संयमः॥ ५१॥ (यो०सू०३.४)

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि

साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्॥ ५१॥

(त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान, और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उसमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो होता है॥ ५१॥

उपनिषदों में उपासना

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि—

[अब उपासना के विषय में उपनिषदों के प्रमाण दिये जाते हैं—]

परमेश्वर की उपासना करने योग्य मनुष्य

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ १॥ (कठ०२.२४)

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसकी परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती॥ १॥

परमेश्वर के राज्य में प्रवेश के योग्य

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।

सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ २॥

—(मुण्ड०१.२.११)

(तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं ॥२॥

शरीर में परमेश्वर का वास हृदयप्रदेश में

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥३॥ (छान्दो०८.१.१)

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है॥३॥

हृदयदेश में दृश्य और अदृश्य सब कुछ

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥४॥ (छान्दो०८.१.२)

और कदाचित् कोई पूछे कि—(तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है, जिसकी खोजना की जाय?॥४॥

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति॥५॥ (छान्दो०८.१.३)

तो इसका उत्तर यह है कि—(स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसीकी सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं॥५॥

ब्रह्मपुर (हृदय) में खोजने योग्य तत्त्व परमेश्वर

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति॥६॥

—(छान्दो०८.१.४)

(तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिसको तुम खोजने को कहते हो?॥६॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥७॥ (छान्दो०८.१.५)

तो इसका उत्तर यह है कि—(स ब्रूयात्०) सुनो भाई! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है, उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघित्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिसके सब काम सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस-जिस काम की, जिस-जिस देश की, जिस-जिस क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं॥७॥

परमेश्वर की उपासना द्विविध : सगुण और निर्गुण

सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एक सगुणा, द्वितीया निर्गुणा चेति। तद्यथा—(स पर्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च।

सो उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से (स पर्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचनेवाला, वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है।

सगुणोपासना

तथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ १॥ —(श्वे०६.११)

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याश-

ब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा— परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्।

तथा (एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च) इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करनेवाला और सबका स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं।

निर्गुणोपासना

तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, अव्रणः छेदरहितः, निराकार आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्।

और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध वाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं।

परमेश्वर देहधारण से सगुण और देहत्याग से निर्गुण नहीं

अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति, सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात् सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण

और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सबको पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

Pustakam

(१५) मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति।

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

मुक्तिविषय में योगशास्त्र

अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि। तद्यथा—

अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं। पूर्व लिखी हुई चित्त की पाँच वृत्तियों का यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं—

पञ्चक्लेश

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥१॥ (यो०सू०२.३)

(अविद्या०) एक 'अविद्या;' दूसरा 'अस्मिता;' तीसरा 'राग;' चौथा 'द्वेष;' और पाँचवाँ 'अभिनिवेश' है॥१॥

अविद्या

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥२॥ (यो०सू०२.४)

(अविद्याक्षेत्र०) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फंसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों को सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्नभिन्न होके प्रसुप्ततनु=नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं॥२॥

Pustakam

अविद्या

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ ३॥

—(यो०सू०२.५)

अविद्या के लक्षण ये हैं—(अनित्या०) अनित्य अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर) में नित्यबुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है।

तथा 'अशुचि' मल-मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना; तथा तलाब, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना; एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख-प्यास आदि दुःखों को सहना; स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना, और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है।

तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना; जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि, अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भाव करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की 'अविद्या' संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख

और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की 'विद्या' है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है॥३॥

अस्मिता

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ ४॥ (यो०सू०२.६)

(दृग्दर्शन०) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है॥४॥

राग

सुखानुशयी रागः॥ ५॥ (यो०सू०२.७)

तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोगवियोगान्त है, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है॥५॥

द्वेष

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ६॥ (यो०सू०२.८)

(दुःखानु०) चौथा 'द्वेष' कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है॥६॥

अभिनिवेश

Pustakam

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥७॥ (यो०सू०२.९)

(स्वरसवा०) पाँचवाँ 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। जो कि विद्वान्, मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है॥७॥

अविद्यादि के दूर होने से कैवल्य

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥८॥ (यो०सू०२.२५)

(तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है॥८॥

क्लेशों और दोषों के बीज अविद्या के नाश से कैवल्य

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥९॥ (यो०सू०२.५०)

(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उनके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता॥९॥

सत्त्व और पुरुष की शुद्धि की समता से कैवल्य

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥१०॥ (यो०सू०३.५५)

तथा (सत्त्वपुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं॥१०॥

Pustakam

चित्त के विवेकसम्पन्न होने पर कैवल्य

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ ११॥ (यो०सू०४.२६)

(तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसकी मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है॥११॥

कैवल्यमोक्ष का लक्षण

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ १२॥ (यो०सू०४.३४)

कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि—(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्यमोक्ष कहते हैं॥१२॥

मुक्ति विषय में न्यायशास्त्र

अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि—

अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं—

न्यायदर्शन में मुक्ति का मार्ग

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ १॥ (न्या०सू०१.१.२)

(दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि

की वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसीका नाम 'मोक्ष' है॥१॥

दुःख का लक्षण

बाधनालक्षणं दुःखमिति॥२॥ (न्या०सू०१.१.२१)

(बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है॥२॥

मोक्ष का लक्षण

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥३॥ (न्या०सू०१.१.२२)

(तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम 'मोक्ष' है॥३॥

मुक्ति के विषय में वेदान्तशास्त्र

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि—

अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है, सो आगे लिखते हैं—

बादरि के अनुसार मुक्ति में जीव की स्थिति

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१॥ (वे०सू०४.४.१०)

(अभावं०) व्यासजी के पिता जो बादिरि आचार्य थे, उनका मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि—जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है, और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है॥१॥

Pustakam

जैमिनि के अनुसार मुक्ति में जीव की स्थिति

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥ (वे०सू०४.४.११)

तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि—जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्प शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में 'स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति' इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है॥२॥

बादरायण के अनुसार मुक्ति में जीव की स्थिति

द्वादशाहवदुभयविधं बादरयाणोऽतः॥ ३॥ (वे०सू०४.४.१२)

(द्वादशाह०) इस मुक्तिविषय में वादरायण जो व्यासजी थे, उनका ऐसा मत है कि—मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं। अर्थात् क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है, और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है। इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है॥३॥

मुक्ति के विषय में उपनिषद्

अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है, सो भी आगे लिखते हैं कि—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ १॥ (कठ०२.३.१०)

Pustakam

(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसीको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥१॥

योगधारणा

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगी हि प्रभवाप्ययौ॥ २॥ (कठ०२.३.११)

(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला, तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है। इसलिये केवल उपासनायोग ही मुक्ति का साधन है॥२॥

मोक्ष के लिये अर्हता : कामनाओं से मुक्ति

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ ३॥ (कठ०२.३.१४)

(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।

मोक्ष का स्थान

प्रश्न—क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में?

उत्तर—नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है। और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥३॥

मोक्ष के लिये अर्हता : अविद्यादि बन्धनों का नाश

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ ४॥ (कठ०२.३.१५)

तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है॥४॥

मोक्ष में मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप

प्रश्न—जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है?

दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥ (छान्दो०८.१२.५)

उत्तर—(दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता होकर उसमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं॥५॥

मुक्तजीव लोक-लोकान्तरों का भ्रमण करने के लिये स्वतन्त्र

प्रश्न—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है; अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है?

य एते ब्रह्मलोके, तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥६॥

(छान्दो०८.१२.६)

उत्तर—(य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उनका जाना-आना सब लोकलोकान्तरों में होता

है, उनके लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम खण्डित वा अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जान के, उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है॥ ६॥

पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये।

ब्रह्म का स्वरूप और उसे प्राप्त करने की कामना

यदन्तरापस्तद् ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा, प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं यशसां यशः०॥७॥ (छान्दो०८.१४.१)

(यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। और जैसे वह सबका अन्तर्यामी है, वैसे उसका अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं। और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके बीच में (यशः) अर्थात् कीर्त्ति को प्राप्त होऊं। तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर! मैं कीर्तियों का भी कीर्तिरूप होके आपको प्राप्त हुआ चाहता हूँ। आप भी कृपा करके मुझको सदा अपने समीप रखिये॥ ७॥

मुक्ति का मार्ग

अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं—

अणुः पन्था वितरः पुराणो माꣳस्पृष्टो [अनु] वित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः॥८॥

(श०ब्रा०१४. ७. २.११)

(अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता में पहुँच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है, वह प्राचीन है, दूसरा कोई नहीं। मुझको (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव, (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, (स्वर्गं लोकम्) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं॥८॥

मोक्षपद में लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च॥९॥ (श०ब्रा०१४. ७. २.१२)

(तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात् उसी मोक्षपद में शुक्ल=श्वेत, (नीलम्) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गलम्) किंचित् पीला श्वेत, (हरितम्) हरा और (लोहितम्) लाल ये सब गुण वाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म को जानने वाला, तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं॥९॥

ब्रह्म की प्राप्ति मन से

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन॥१०॥

—(श०ब्रा०१४. ७. २.२१)

(प्राणस्य प्राण०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र,

अन्न का अन्न और मन का मन है, जो विद्वान् उसको जानते हैं और उसीका यथावत् निश्चय करते हैं, वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होके, प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं। (नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है॥१०॥

ब्रह्म का दर्शन मन से

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्॥११॥ (श०ब्रा०१४. ७. २.२२)

(मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनामात्रस्वरूप ही है तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है, उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है॥११॥

ब्रह्मज्ञान से बुद्धि विशाल

विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः।

धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥१२॥ (श०ब्रा०१४. ७. २.२२)

(विरजः पर आ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परम सूक्ष्म, (अजः०) अर्थात् जन्मरहित, और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है। ज्ञानी लोग उसी को जान के, अपनी बुद्धि को विशाल करें। और वह इसीसे ब्राह्मण कहाता है॥१२॥

ब्रह्म की प्राप्ति साकार पदार्थ के समान नहीं

स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वमह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽश-

ब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं चन न तदश्नोति कश्चन॥ १३॥ (श०ब्रा०१४.६.८.८)

(स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, वाक्, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकास, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोषों और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है, क्योंकि वह सब में परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है। उसको प्राप्त होने वाला [बाह्य साधन] कोई नहीं हो सकता, जैसे द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है। क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है॥ १३॥

इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम्।

[इस प्रकार प्राप्तव्य मोक्षस्वरूप सच्चिदानन्दलक्षण वाले परब्रह्म प्राप्ति से जीव सदा सुखी होता है, यह जानना चाहिये।]

मुक्ति में वेद का प्रमाण

अथ वैदिकप्रमाणम् —

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ १॥

—(ऋ०१०.६२.१)

तथा (ये यज्ञेन०) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर

को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। (इन्द्रस्य०) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। (अङ्गिरसः) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे (सुमेधसः) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं। और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक-दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं॥१॥

तृतीय धाम मोक्ष में आनन्द

स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यत्र॑ दे॒वाऽअ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त॥ २॥

—(यजु०३२.१०)

(स नो बन्धुः०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला, (जनिता०) सब सुखों को उत्पन्न और पालन करने वाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं॥२॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्। एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते।

इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे कहीं-कहीं करेंगे, सो जान लेना। जैसे 'वेदाहमेतं' इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषय संक्षेपतः

(१६) अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

भूमि, जल और अन्तरिक्ष में गमन करने योग्य नौका

तुग्रो॑ ह भु॒ज्युम॑श्विनोद॒मे॒घे र॒यिं न कश्चि॑न्ममृ॒वाँ अवा॑हाः।
तम॑ू॒हथु॒र्नौभि॒रा॑त्म॒न्वती॑भिरन्तरिक्ष॒प्रुद्भि॒रपो॑दकाभिः॥ १॥

—(ऋ०१.११६.३)

एषामभिप्रायः—तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयत इति।

(तुग्रो ह) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु' अस्माद्धातोरौणादिके 'रक्' प्रत्यये कृते तुग्र इति पदं जायते। यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स (रयिम्) धनं कामयमानो (भुज्युम्) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात्। स च (अश्विना०) पृथिवीमयैः काष्ठगोलादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेदागमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत्। एवं कुर्वन् (न कश्चिन् ममृवान्) योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति, कुतः? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात्। अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात्। कौ साधयित्वा? (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया। अश्विनौ युवां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः। पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः। कथंभूतैर्यानैः—(नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः, (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीयस्थिताभिर्वा। राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमानागमने नित्यं कार्ये इति शेषः। तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि। एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः

परमैश्वर्य्यं सम्यक् प्रापणीयम्। पुनः कथम्भूताभिर्नौभिः—(अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्चिक्कनास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविधं यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्यादिति।

अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

(तुग्रो ह०) 'तुजि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करने से 'तुग्र' शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है। क्योंकि वैदिक शब्द, सामान्य अर्थ में वर्त्तमान हैं। जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस-जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे, उन सभों का नाम 'तुग्र' है। (रयिम्) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है, उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना) जो कोई सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रच के, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर और पदार्थों को भर के, व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे-जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता।

वे नौका आदि किनको सिद्ध करने से होते हैं अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध

किये हुए नाव, विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश-देशान्तर में सुख से होता है। यहाँ पुरुषव्यत्यय से 'ऊहतुः' के स्थान में 'ऊहथुः' ऐसा प्रयोग किया गया है।

उनसे किस-किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती है, सो लिखते हैं—(नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं, (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चला के जाते आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों से समुद्र में जावें आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिनका नाम विमान शब्द करके प्रसिद्ध है तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना। उसका अर्थ यह है—

अत्र प्रमाणम् —

अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रा- वित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके॥

—(निरु०१२.१)

(अथातो द्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से

उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनसे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और औषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं, इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा मत है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ' सूर्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-वियोग, वृद्धि-क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं।

तथाश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। उदन्यजेवेत्युदकजे इव। रत्ने सामुद्रे॥ (निरु०१३.५)

तथा 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करनेवाले, और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण-पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'उदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है।

एतैः प्रमाणैरेतत् सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति॥१॥

[इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वायु, जल, अग्नि, पृथिवी-विकार, कला-कौशल के साधने से जल, थल और अन्तरिक्ष में चलने वाला यान बनाया जा

सकता है, इसलिये इस त्रिविध यान की रचना करनी चाहिये।]

भूमि, जल और अन्तरिक्ष में गमन करने वाले यान की सिद्धि

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः॥ २॥

—(ऋ०१.११६.४)

(तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नावादिभिः—तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः। पुनः कथम्भूतैः—(पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभी रथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः। तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह —(नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यमश्विभ्याम्। अत एवोक्तं, 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ' तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात्। अत्र प्रमाणम् —

(तिस्रः क्षपस्त्रि०)। (नासत्या०) जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं, वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन रात में (समुद्र०) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। (त्रिभी रथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना चाहिये। तथा (षडश्वैः) छः अश्व, अर्थात् उनमें अग्नि और जल से छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतङ्गैः) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है॥ २॥

व्यत्ययो बहुलम्॥ (अष्टा०३.१.८५)

अत्राह महाभाष्यकारः—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

—(महा०भा०३.१.४.८५)

इति महाभाष्यप्रामाण्यात्।

तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतः, इत्यत्र सामान्यकाले लिङ्विधानाद् ऊहथुरित्युक्तम्। तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः। एवं कुर्वन्तो भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति॥ २॥

[वे दोनों अश्विनी ही सम्यक् प्रकार से यानों को ले जाते हैं, यहाँ मन्त्र में सामान्यकाल में लिट् का विधान होने से व्यत्यय कारण 'ऊहतुः' के स्थान में 'ऊहथुः' पाठ है। वे दोनों ही उन यानों के मुख्य साधन हैं। इस प्रकार करने से भुज्यु अर्थात् उत्तम सुखभोग को प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं।]

समुद्र और अन्तरिक्ष के लिये अश्विनियों (वायु आदि) से याननिर्माण

अ॒नार॑म्भ॒णे तदु॑वीयरयेथामनास्था॒ने अ॑ग्रभ॒णे स॑मु॒द्रे।

यदु॑श्विना ऊ॒हथु॑र्भु॒ज्युमस्तं॑ श॒तारि॑त्रां॒ नाव॑मातस्थि॒वांस॑म्॥ ३॥

—(ऋ०१.११६.५)

हे मनुष्याः! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे, अन्तरिक्षे वा, कार्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति। 'अश्विना ऊहथुर्भुज्यु'मिति पूर्ववद् विज्ञेयम्। तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तम्) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति।

कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत्? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम्। तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति। तद्यानैः कथम्भूतं (भुज्युम्) भोगं प्राप्नुवन्ति? (तस्थिवांसम्) स्थितिमन्तमित्यर्थः॥३॥

(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो। (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में बिना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का नाम भी समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है, उनमें किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें। (यदश्विनौ ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है। क्योंकि (अस्तम्) जो उनसे चलाया जाता है, वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्यों को सिद्ध करता है। (शतरित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ों अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये, जिनसे जहाँ चाहे वहाँ उन यानों को थांभे। इसी प्रकार उनमें सैकड़ों कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहिये। इस प्रकार यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं॥३॥

अश्विनी (अग्नि और जल के संयोग से) निर्मित वाष्पचालित यान सुखकारक

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत् पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥४॥

—(ऋ०१.११६.६)

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेव सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। (यमश्विना) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं वाष्पाख्यमश्वम् (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय, शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति। (शश्वत्०) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति। तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति। (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः। तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं वर्त्तते, तत् कीदृशं? (दात्रम्) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम् (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम्। कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वनः (अष्टा०३.४.१४) **इति 'केन्य' प्रत्ययः। अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकं (भूत्) अभूत् भवतीति। अत्र लङर्थे लुङ्झिहित इति वेद्यम्। स चाग्न्याख्यो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति।**

पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी॥ (निघ०१.१४)

(सदमित्) यः सदं वेगं इत एति प्राप्नोतीतिदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति। (अर्यः) तमश्वमर्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात्, अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अष्टा०३.१.१०३) **इति पाणिनिसूत्रात्, अर्यो वैश्यस्वामिवाचीति॥ ४॥**

(यमश्विना०) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से (श्वेतमश्वम्) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है। जिससे कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं हो सकती, उसको जितना बढ़ाना चाहे उतना बढ़ सकता है। (शश्वदित्स्वस्ति) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है। (ददथुः) जो कि वायु, अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है, उसको मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) वह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्विसंयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि)

अर्थात् बड़े बड़े शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व, मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है। (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करें, क्योंकि इन यानों के बिना द्वीपान्तर में जाना आना कठिन है॥४॥

याननिर्माणविधि और उसकी सामग्री

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥५॥

—(ऋ०१.३४.२)

(मधुवाहने०) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः। तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः (स्कभितासः) किमर्थाः, सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनाम्) कमनीयां कामनासिद्धिं (विदुः) जानन्त्येव। अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः। कुतः? तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति। तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तं त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम्॥५॥

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। (त्रयः स्कम्भासः) उनमें तीन-तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहिये कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें। तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे

के साथ लगे रहें, (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसीमें सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पि विद्वान् लोगे ऐसे यानों का सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ा सुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप-द्वीपान्तर में जा सकते हैं॥५॥

मन के समान वेगशील यान का निर्माण लोहा, ताम्र और रजतादि त्रिधातु

त्रिर्नो॑ अश्विना यज॒ता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शायतम्।
ति॒स्रो नास॑त्या॒ रथ्या॑ परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वातः॒ स्वस॑राणि गच्छतम्॥ ६॥

—(ऋ०१.३४.७)

यत्पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं, तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह—(परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम्। इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह—(आत्मेव वातः०) आगमनागमने यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः॥ ६॥

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है, (परि त्रिधातु) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं। और जैसे (रथ्या परावतः) नगर वा ग्राम की गलियों में झट-पट जाना आना बनता है, वैसे दूर देश में भी सवारियों से शीघ्र-शीघ्र जाना आना होता है। (नासत्या०) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में सहज से जाना आना करें। जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें

आवें॥ ६॥

आकाश और समुद्र में चलने वाले यानों में वाष्पवेग के लिये जलाशय

अरित्रं॑ वां दि॒वस्पृ॒थु ती॒र्थे सिन्धू॑नां॒ रथः॑। धि॒या यु॑युज्र॒ इन्द॑वः॥ ७॥

—(ऋ०१.४६.८)

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह—(अरित्रम्) स्तम्भनार्थं साधनयुक्तं, (पृथु) अतिविस्तीर्णम्। ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम्। (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि वाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति।

इन्दवः इति जलनामसु॥ (निघण्टौ १.१२)

उन्देरिच्चादेः॥ (उणा०१.१२)॥ ७॥

(अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुँचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, जो मनुष्य उन रथों में यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं। (धिया युयुज्रे) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बनाके उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला यान सिद्ध हो॥ ७॥

मन के समान गति वाले यान

वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभिः॑ प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा।
म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातासः॒ पृष॑तीरयु॒ग्ध्वम्॥ ८॥

—(ऋ०१.८५.४)

हे मनुष्याः! (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत। कथम्भूता अग्निवाय्वादयः? (आ वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः। येषां संयोगे वाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्ध्यन्तीत्युपदिश्यते॥८॥

(वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो। (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ। और (आ वृषव्रातासः) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो। (पृषतीरयुग्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं, वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं, वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं। और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले सब भोगों से युक्त होते हैं, (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते, और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं। क्योंकि कलाकौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टिभिः) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़के मनोवेग यानों से जाते आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख बढ़ता है। इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें॥८॥

समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में गमन के लिये याननिर्माण की प्रेरणा

आ नो॑ ना॒वा म॑ती॒नां या॒तं पा॒राय॒ गन्त॑वे। यु॒ञ्जाथा॑मश्विना॒ रथ॑म्॥९॥

—(ऋ०१.४६.७)

समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि। (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां नावा नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) यथा

मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः। एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः। मेधाविनामसु, (निघण्टौ [तृतीयेऽध्याये] १५ खण्डे) **मतय इति पठितम्॥९॥**

हे मनुष्यो! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय०) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है, वैसे ही (आ युञ्जाथाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्वि का योग यथावत् करो। (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। (नः) हे मनुष्यो! आओ, आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें, जिससे सब देश देशान्तर में हमारा जाना आना बने॥९॥

सुपर्णयुक्त अग्निजलादिरूप अश्व से यान आकाश में उड़ने में सक्षम

कृ॒ष्णं नि॒यान॑ं हर॑यः सुप॒र्णा अ॒पो वसा॑ना॒ दिव॒मुत्प॑तन्ति।
त आ व॑वृत्र॒न्त्सद॑नादृ॒तस्यादिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वी व्यु॑द्यते॥१०॥

—(ऋ०१.१६४.४७)

हे मनुष्याः! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चेत्तदा (कृष्णम्) पृथिवीविकारमयं (नियानम्) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति, ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः॥१०॥

(कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खैंचनेवाला जो (नियानम्) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुणरूप, (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन करनेवाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपो वसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेगयुक्त होते हैं, तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त

की जाती है, तब उससे उत्तम-उत्तम भोग प्राप्त होते हैं॥१०॥

याननिर्माण और उसके परिचालन की विधि

द्वा॑दश प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तस्मि॑न्त्सा॒कं त्रि॒॑शता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ताः ष॒ष्टिर्न च॑ला॒चला॑सः॥११॥

—(ऋ०१.१६४.४८)

(द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः। (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्। (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्याववयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि। तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः। (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हा अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्यकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि। तस्मिन् याने, एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम्। (क उ तच्चिकेत) इत्येतत्कृत्यं को विजानाति? (न) नहि सर्वे॥११॥

(द्वादश प्रधयः) इन यानों में बारह थम्भे रचने चाहिये, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायें। (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। (त्रीणि नभ्यानि) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये कि एक के चलाने से सब रुक जायें, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उसमें तीन तीन सौ (शङ्कवः०) बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहिये कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायें और उनके निकालने से सब अलग हो जायें। (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें। अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो, तब भाफघर के ऊपर में मुख बन्द रखने चाहिये, और जब ऊपर से नीचे उतारना हो, तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना

हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये, और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिये। इसी प्रकार उत्तर, दक्षिण में भी जान लेना। (न) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं॥ ११॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्रास्सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते।

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहाँ थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः

Pustakam

(१७) अथ ताराविद्यामूलं संक्षेपतः

ताराविद्या

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शयैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ १॥

—(ऋ०१.११९.१०)

अस्यामभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे ताराविद्याबीजं प्रकाश्यत इति।

हे मनुष्याः! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारम्) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतम्) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युम्) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरम्) राजसेनाकार्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यम्, (चर्कृत्यम्) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारम्) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत। कथम्भूतैर्गुणैर्युक्तम्? (शय्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय। पुनः कथम्भूतम्? (स्पृधाम्) स्पर्द्धमानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम्। पुनः कथम्भूतम्? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम्। पुनः कथम्भूतम्? (इन्द्रमिव०) सूर्यवत् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् (युवम्) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम्॥ १॥

(युवं पेदवे०) अभिप्रायः— इस मन्त्र से ताराविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से ताराविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि 'द्यावापृथिव्योरित्येके' इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये।

(पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है। (पुरुवारम्) अर्थात् इस ताराविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिये यह ताराविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये। (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रकाश होता और उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के बारंबार चलाने के लिये योग्य होता है। (शय्यैः) अनेक प्रकार के कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों की सिद्ध करने के लिये, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये, तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये ताराविद्या सिद्ध करनी चाहिये। (चर्षणीसहम्) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्य्यों को सहन करनेवाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है, वैसे तारायन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तारायन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये॥१॥

इति ताराविद्यामूलं संक्षेपतः॥

Pustakam

(१८) अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

वैद्यकविद्या

सुमित्रिया न॒ऽआप॒ऽओष॑धयः सन्तु।

दुर्मित्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः॥१॥

—(यजु०६.२२)

अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति।

हे परमवैद्येश्वर! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रियाः) अत्र 'इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम्' (अष्टा०७.१.३९) इति वार्त्तिकेन 'जसः' स्थाने 'डियाच' इत्यादेशः। सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु। तथा (योऽस्मान् द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै दुर्मित्रियाः) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु। अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति। तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति॥१॥

(सुमित्रिया व०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ, तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि, (नः) हमारे लिये, (सुमित्रियाः सन्तु) सुखकारक हों। तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं, और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिये विरोधिनी हों। क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देनेवाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं॥१॥

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति प्रसङ्गाभावा-

न्नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले [वेद में बहुत] हैं। [प्रसङ्ग न होने से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। जहाँ-जहाँ वे मन्त्र आयेंगे, वहीं उनके अर्थों को यथावत् प्रस्तुत किया जायेगा।]

इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः॥

Pustakam

(१९) अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

पुनर्जन्म में ऋग्वेद का प्रमाण

असु॑नीते॒ पुन॒॑रस्मासु॒ चक्षुः॒ पुनः॑ प्रा॒णमि॒ह नो॑ धेहि॒ भोग॑म्।
ज्योक् प॒॑श्येम॒ सूर्य्य॑मुच्च॒र॑न्त॒मनु॑मते मृ॒ळया॑ नः स्व॒स्ति॥ १॥

—(ऋ०१०.५९.६)

एतेषामभिप्रायः—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति।

(असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्। पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणामन्तःकरणं च धेहि। एवं हि भगवन्! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि। यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं सूर्य्यं) श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्यलोकं च निरन्तरं पश्येम (अनुमते) हे अनुमन्तः परमेश्वर! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय। भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते॥ १॥

(असुनीते) हे सुखदायक परमेश्वर! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिए। तथा (पुनः प्राणः) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए। (इह नो धेहि भोगम्) हे जगदीश्वर! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों। तथा (ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन्! आपकी कृपा से सूर्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान

तथा प्रेम से सदा देखते रहें। (अनुमते मृडया नः स्वस्ति) हे अनुमते=सबको मान देनेहारे! सब जन्मों में हम लोगों को मृडय=सुखी रखिये, जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो॥१॥

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः॥२॥

—(ऋ०१०.५९.७)

(पुनर्नो०) हे भगवन्! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यम् (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु)। तथा (पुनर्द्यौ०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना सूर्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्याम्) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान्॥२॥

(पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमान्! आपके अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। तथा (पुनः पूषा०) पुष्टि करनेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करनेवाली पथ्यरूप स्वस्ति को देवे॥२॥

पुनर्जन्म में यजुर्वेद का प्रमाण

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥३॥ —(यजु०४.१५)

(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च

(मे) मह्यमागन्पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् (पुनरात्मा०) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात् (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम॥ ३॥

(पुनर्मनः पुनरात्मा०) हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब-जब हम जन्म लेवें, तब-तब हमको शुद्ध, मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। (वैश्वानरोऽदब्धः०) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें॥ ३॥

पुनर्जन्म में अथर्ववेद का प्रमाण

पुनर्मेत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ ४॥

—(अथर्व०७.६७.१)

(पुनर्मे) हे भगवन्! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रियाणि, आत्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणम्) विद्यादिश्रेष्ठधनम् (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वम्, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणम्, (मैतु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु। (धिष्ण्या यथास्थाम०) हे जगदीश्वर! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम, तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्यकरणे समर्था भवेम। येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद्विकला भवेम॥ ४॥

(पुनर्मेत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर! आप की कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह

इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे। (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करनेहारा सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे। जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें। (द्रविणम्) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुर्नजन्म में प्राप्त होते रहें। (ब्राह्मणं च) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे। (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे, वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझको यथावत् प्राप्त हों। (इहैव) जिनसे हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिस करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हो॥४॥

धर्माचरण से उत्तम तथा अधर्माचरण से निकृष्ट योनि की प्राप्ति

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद् ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥५॥

—(अथर्व०५.१.२)

(आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः), पूर्वजन्मनि, धर्म्माणि यादृशानि धर्मकार्याणि, (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकारणाद् बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति। एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते। इदमेव मन्त्रार्धेनेश्वरो ज्ञापयति (धास्युर्योनि०) धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा,

वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः (यो वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते। तद्विपरीताचरणस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम्॥ ५॥

(आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनि०) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदिताम्) जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्याचरण की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है, और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थिर रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है॥५॥

कर्मफलभोग के तीन मार्ग : देवयान, पितृयान तथा कीटपतङ्गयोनि

द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥६॥

—(यजु०१९.४७)

(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्यानाम्) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्चेति। यत्र जीवो मातापितृभ्यां

देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति, सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेति। अहमेवम्भूते द्वे सृती (अश्रृण्वम्) श्रुतवानस्मि। (ताभ्यामिदं विश्वम्) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत्समेति) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति। (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम्॥ ६॥

(द्वे सृती) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अश्रृण्वम्) सुनते हैं। एक मनुष्यशरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इसमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों को होता है, और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं, उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने-अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, वारंवार होता है॥ ६॥

निरुक्त में पुनर्जन्म का प्रतिपादन

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है, वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है—

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥ १॥ (निरु०१३.१९)

जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक-ठीक जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक वार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया॥१॥

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।

मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥२॥ (निरु०१३.१९)

(आहारा वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया, अनेक माता-पिता और सुहृदों को देखा॥२॥

अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः॥७॥ (निरु०१३.१९)

(अवाङ्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता॥७॥

अत्र 'मृतश्चाहं पुनर्जात' इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम्॥७॥

[यहाँ 'मृतश्चाहं पुनर्जातः' इत्यादि वचनों से निरुक्तकार ने पुनर्जन्म का वर्णन किया है, यह जानना चाहिये।]

योगदर्शन के अनुसार पुनर्जन्म

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढोऽभिनिवेशः॥८॥ (यो०सू०२.९)

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः। या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः? जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति। तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतः। जीवेनानेकानि

शरीराणि धार्यन्ते। यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत्तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यान्नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति, स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत? कुतः? प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम्॥८॥

तथा योगशास्त्र में [पतञ्जलि मुनि तथा उसके भाष्यकर्ता वेदव्यास ने] भी पुनर्जन्म का विधान किया है—(स्वरस०)। (सर्वस्य प्रा०) हरएक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं। मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवम्) अर्थात् न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह अभिनिवेश 'क्लेश' कहलाता है, जो कि कृमिपर्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है॥८॥

न्यायदर्शन के अनुसार पुनर्जन्म

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥९॥ (न्या०सू०१.१.१९)

(पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः। यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्। प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः॥९॥

तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सूत्र, और उसी के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि—जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं॥९॥

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में शंकाओं का निवारण

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति—यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीति?

इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्वजन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता?

अत्र ब्रूमः—भोः ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुषुप्त्यवस्थायां च, तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा?

उत्तर—आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो-जो सुख-दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन-पाठन और व्यवहार करते हैं, उनमें भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता। जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है?

प्रश्नः— यदि पूर्वजन्मकृतयोः सुखदुःखफले हीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति, तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति?

तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता, और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता?

अत्र ब्रूमः—द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं, द्वितीयमानुमानिकं च। यथा कस्यचिद्वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविद्यारहितोऽपि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं कृतमिति जानाति, विना कारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात्। तथैव न्यायकारीश्वरोऽपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति। संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति।

उत्तर—ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से। जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका पूर्व निदान जान लेता है, और दूसरा नहीं जान सकता। परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं। इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक-ठीक रोग के कारण और कार्य को निश्चय करके जानता है, और अविद्वान् कार्य को तो ठीक-ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता। वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख नहीं देता। जब हम को पुण्य-पाप का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते। इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं।

अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि। किञ्च, न बुद्धिमन्तः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति, ते ह्युद्देशमात्रेणाधिकं जानन्ति। ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लिख्यते।

[पुनर्जन्म के विषय में एकजन्मवादी इसी प्रकार के अन्य प्रश्न करते हैं, विचार करके उनके उत्तर देने चाहिये। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान् के लिये अधिक लिखना उचित नहीं है, वे संकेतमात्र से अधिक जान लेते हैं। ग्रन्थविस्तारभय से मैं यहाँ अधिक नहीं लिखता हूँ।]

इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें। मैं यहाँ इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता।

इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

Pustakam

(२०) अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

विवाह में अविरुद्ध आचरण न करने की प्रतिज्ञा

गृभ्णामि॑ ते सौभग॒त्वाय॒ हस्तं॒ मया॑ पत्या॑ जर॒दष्टि॒र्यथास॑:।
भगो॑ अर्य्य॒मा स॑वि॒ता पुर॑न्धि॒र्मह्यं॑ त्वादुर्गार्ह॑पत्याय दे॒वाः॥ १॥

—(ऋ०१०.८५.३६)

अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति। हे कुमारि युवते कन्ये! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते हस्तम्) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह। हे स्त्रि! (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः आसः) जरावस्थां प्राप्नुयुस्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं, वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम्। एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्यावहि (भगः) सकलैश्वर्यसम्पन्नः, (अर्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं [त्वादुः] गार्हपत्याय) गृहकार्याय त्वां मदर्थं दत्तवान्। तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्तिः। यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति॥ १॥

(गृभ्णामि ते सौभत्वाय हस्तं०) हे स्त्रि! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूँ। और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुझको अप्रिय होगा, उसको मैं कभी न करूँगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं कभी न करूंगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने

वाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिये और तुझको मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्त्तेंगें। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्यविद्या का प्रचार करेंगे, और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक-ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगो! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा॥१॥

विवाहित स्त्री-पुरुष के लिये सदा सर्वदा साथ रहने का विधान

इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम्।

क्रीळ॑न्तौ पु॒त्रैर्न॑प्तृ॒भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वे गृ॒हे॥ २॥ (ऋ०१०.८५.४२)

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेतामेतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति। (इहैव स्तम्) हे स्त्रीपुरुषौ! युवां द्वाविहास्मिंल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्यातम् (मा वियौष्टम्) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम्। एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम्। पुनः (स्वे गृहे०) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम्॥ २॥

(इहैव स्तम्) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों

गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टम्) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो॥२॥

बहुविवाह का निषेध

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्येकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति। अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति। सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात्। एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

[इस प्रकार इस मन्त्र से भी एक स्त्री का एक ही पति तथा एक पुरुष की एक ही स्त्री हो अर्थात् पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ विवाह का निषेध है, उसी प्रकार अनेक पुरुषों के साथ एक स्त्री के विवाह का निषेध है। क्योंकि सभी वेदमन्त्रों में एकवचन का निर्देश है।] इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं. उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं, वहाँ देख लेना।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः

Pustakam

(२१) नियोगविषयः संक्षेपतः

'नियोग' उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष, ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाय, अथवा उनमें किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय, वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़ जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं—

नियोगविधान और पुनर्विवाह

कुह॑ स्विद्दो॒षा कुह॒ वस्तो॑र॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं क॑रतः॒ कुहो॑षतुः।
को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वर॑ं मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते स॒धस्थ॒ आ॥ १॥

—(ऋ०१०.४०.२)

एषामभिप्रायः—अत्र विधवाऽस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति।

(कुहस्विद्दोषा०) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ! युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः (कुह अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं (करतः) कुरुतः। (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थान-वासोऽस्ति। (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति। इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च। द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद्वियोगव्यभि-चारौ भवेतामिति द्योत्यते। (विधवेव देवरं) कं केव? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव। अत्र प्रमाणम् —

(कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री-पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां बसे थे? (कुहाभिपित्वं

करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है? (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषय में एक ही वचन के प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदरीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये, अधिक नहीं। और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये।

पुनर्विवाह का निषेध

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ (निरु०३.१५)

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्। पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्।

(विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी किया करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको 'देवर' कहते हैं। इससे यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो दो सन्तानों के लिये नियोग होना, और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्यन्त के लिये होना चाहिये।

नियोग के निषेधस्थल

परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय। और जो कोई इस नियम को तोड़े उस को द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय॥१॥

नियोजित स्त्री-पुरुष का परस्पर व्यवहार

नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह—

(मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्त्तेयाताम्॥ १॥

[(मर्यं न योषा) जैसे विवाहित मनुष्य (सधस्थे) एक शय्या का प्रयोग (कृणुते) करते हैं, उसी प्रकार विधवा स्त्री और विधुर सन्तानोत्पत्ति के लिये परस्पर नियोग करके विवाहित स्त्री-पुरुष के समान व्यवहार करें।]

नियोग के प्रस्तावक का सन्तान पर अधिकार

इ॒यं नारी॑ पतिलो॒कं वृ॑णा॒ना नि प॑द्यत॒ उप॑ त्वा मर्त्य॒ प्रेत॑म्।
धर्मं॑ पुरा॒णमनु॑पा॒लय॑न्ती॒ तस्यै॑ प्र॒जां द्रवि॑णं चे॒ह धे॑हि॥ २॥

—(अथर्व०१८.३.३.१)

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतम्) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकम्) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य! (त्वा०) त्वामुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगाविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा? (धर्मं पुराणं०) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणम्) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद्गर्भाधानं कुरु॥ २॥

(इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग करना चाहे, तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। (उप त्वा मर्त्य०) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता

है, कि हे पुरुष! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्यदान कर, जिस से वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाय और वह सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो॥२॥

नियोगव्यवस्था में सन्तान पर अधिकार

उदी॑र्ष्व नार्य॒भि जी॑वलो॒कं ग॒तासु॑मे॒तमुप॑शेष॒ एहि॑।
ह॒स्त॒ग्रा॒भस्य॑ दिधि॒षोस्त॒वेदं पत्युर्ज॑नि॒त्वम॒भि सं ब॑भूथ॥३॥

—(ऋ०१०.१८.८)

(उदीर्ष्व ना०) हे विधवे नारि! (एतं गतासुम्) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकम्) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत्। (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं भवति। हे विधवे! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव॥३॥

(उदीर्ष्व नारी) हे स्त्री! अपने मृतक पति को छोड़ के (अभि जीवलोकम्) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। और जो नियोगधर्म में स्थित हो, तो जब तक मरण न हो तब तक

ईश्वर का ध्यान और सत्यधर्म में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्त ग्रहण करने वाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर। वह तेरी सेवा किया करे। और उसका नाम 'दिधिषु' है। (तवेदम्) वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो, तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने-अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो॥३॥

दस स्त्री-पुरुषों तथा दस सन्तान पर्यन्त नियोग का अधिकार

इ॒मां त्वमि॑न्द्र मीढ्वः सुपु॒त्रां सु॒भगां॑ कृणु।

दशा॑स्यां पु॒त्राना धे॑हि॒ पति॑मेकाद॒शं कृ॑धि॥ ४॥ (ऋ०१०.८५.४५)

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियन्ते कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति, तद्यथा—(इमां त्विमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते! (मीढ्वः) हे वीर्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां (सुपुत्राम्) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगाम्) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु। (दशास्याम्) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम्। तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्यन्तं नियोगं कुरु। अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोपत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्तं नियोगं कुर्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्वितीच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम्॥ ४॥

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र! पते! ऐश्वर्ययुक्त! तू इस स्त्री को वीर्यदान दे के; सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद! (दशास्यां

पुत्रानाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि) तथा हे स्त्री! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं।

इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे। तथा दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ कर ले। इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है। परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है। और जब वह भी रोगी हो वा मर जाय, तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशमस्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे॥४॥

नियोजित पतियों की संज्ञा

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥५॥ (ऋ०१०.८५.४०)

अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते—(सोमः प्रथमः) हे स्त्रि! यस्त्वां प्रथमः (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। (गन्धर्वो वि०) यस्तु उत्तरः द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते। कुतः? तस्य भोगाभिज्ञत्वात् (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोग्या त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि! चतुर्थमारभ्य दशमपर्यान्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवतीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति॥५॥

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—(सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है, उसकी सोमसंज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः) तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से ले दशमपर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं। क्योंकि वे मध्यम होते हैं॥५॥

नियोजित स्त्री के गुण-कर्म

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ ६॥

—(अथर्व०१४.२.१८)

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि देवरसेविके! हे अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके स्त्रि! त्वं (शिवा) कल्याणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्ति-विद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यम्) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय।

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नी) हे विधवास्त्रि! तू देवर और विवाहित पति को सुख देने वाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा) इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्य्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज

को बढ़ाती जा। (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो, बड़े-बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति॥ ६॥

इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके सन्तानोत्पत्ति करो, और उत्तम-उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या का व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही करलो, यही व्यवस्था सबसे उत्तम है॥ ६॥

इति नियोगविषयः संक्षेपतः

Pustakam

(२२) राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

राजधर्म के पालन हेतु सभा और उसके प्रकार

त्रीणि॑ राजाना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि।
अप॑श्य॒मत्र॒ मन॑सा जग॒न्वान् व्र॒ते ग॑न्ध॒र्वा अपि॑ वा॒युके॑शान्॥ १॥

—(ऋ०३.३८.६)

यथा सूर्यचन्द्रौ (राजानौ) सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्यचन्द्र-गुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ (त्रीणि सदांसि भूषथः) भूषयतोऽल-ङ्कुरुतः। (विदथे) ताभि सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति। तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्व-स्तानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति।

इदमत्र बोध्यम् —एका राज्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्याण्येव भवेयुः। द्वितीयाऽऽर्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति। यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति। यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः।

सब जगत् का राजा एक परमेश्वर ही है, और सब संसार उसकी प्रजा है। इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है—'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम' अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिए कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है।

(त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य

को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक 'आर्य्यराजसभा', कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य्य सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्यविद्यासभा', कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी 'आर्य्यधर्मसभा', कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परि विश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये॥१॥

राजसभा के योग्य सभासद्

(अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम्। ईश्वरोऽभिवदति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति। (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद् दूतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्यात्। केशास्सूर्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान् सर्वहितं चिकीर्षून्, धर्मात्मनः सभासदस्स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति॥१॥

[(अपश्यमत्र) मैंने यहाँ यह देखा है। ईश्वर कहता है कि जहाँ सभा के माध्यम से राजप्रबन्ध होता है, वहीं पर ही समस्त प्रजा का हित होता है। (व्रते) जो मनुष्य सत्याचरण में (मनसा) विज्ञान से सत्य और न्याय को (जगन्वान्) जानता है, वह राजसभा के योग्य है, अन्य नहीं। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्त जो तीन सभाएँ हैं, उनके लिये गन्धर्व अर्थात् पृथिवी के राज्यपालन आदि में व्यवहारों में कुशल (अपि वायुकेशान्) वायु के समान दूत के माध्यम से सब व्यवहारों को जान लेने वाले को सभासद् बनना चाहिये। 'केश' का अर्थ 'सूर्य की रश्मियाँ' होता है, सूर्यरश्मियों के समान सत्य और न्याय का प्रकाश करने वाला, सबका हित चाहने वाला, धर्मात्मा सभासद् को स्थापित करने की मैं आज्ञा देता हूँ, अन्यों को नहीं, इस प्रकार का ईश्वर का उपदेश सबको मानना चाहिये।]

क्षत्रिय से शासित राज्य का आधार सभा

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः॥ २॥

—(यजु०२०.१)

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोऽपि जनस्त्वां मा हिंसीदर्थाद्भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम॥ २॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर! आप ही राज्यसुख के परमकारण हैं। (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है। (मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः) हे जगदीश्वर! सब प्रजा आपको छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये। किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें॥ २॥

राजधर्म की सफलता : ब्राह्मण और क्षत्रिय के समन्वय में

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।

तं लोकं पुण्यं यज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ ३॥ (यजु०२०.२५)

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्रह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म तथा क्षत्रं शौर्यधैर्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह), (तं लोकम्) तं देशं (पुण्यम्) पुण्ययुक्तं (यज्ञेषम्) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः। (यत्र देवाः सहाग्निना)

यस्मिन्देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम्॥३॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च०) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकर्मों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होके सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है॥३॥

राजा का चयन और अभिषेक

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। अ॒श्विनो॒र्भैष॑ज्येन॒ तेज॑से ब्रह्मवर्च॒साया॒भि षि॑ञ्चामि॒। इन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॒ बला॑य श्रि॒यै यश॑से॒ऽभि षि॑ञ्चामि॥४॥ (यजु०२०.३)

(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां, बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि। तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां, (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभि षिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः॥४॥

(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें, और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष! आप सब जगत् को

प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर को (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य चन्द्रमा के बल और वीर्य से, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टि करनेवाले प्राण को ग्रहण और दान के शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष स्वीकार करते हैं। (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन ओषधियों से दिन-रात में सब रोगों से तुझको निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति के लिये, मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ कि यह आज्ञा राजा प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें॥४॥

राजा के प्रति प्रजा का भाव

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥५॥ (यजु०२०.४)

(कोऽसि) हे परमात्मन्! सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु। (कतमोऽसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान् सम्पादय। (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः। तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे। (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वर! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे॥५॥

हे महाराजेश्वर! आप (कोऽसि कतमोऽसि) सुखस्वरूप, अत्यन्त, आनन्दकारक हैं, हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिए। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्त्ति के देने वाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द करने वाले जगदीश्वर!

Pustakam

(सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसीसे हमको पूर्ण राज्य और सुख निस्सन्देह होगा॥५॥

सभाध्यक्ष की दृष्टि में राज्य

शिरो॑ मे श्रीर्यशो॒ मुख॒ं त्विषि॒: केशा॑श्च॒ श्मूश्रू॑णि।

राजा॑ मे प्रा॒णो अ॒मृत॑ꣳस॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म्॥ ६॥ (यजु०२०.५)

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—(शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत्। (यशो मुखम्) उत्तमकीर्त्तिमुखवत्। (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत्। (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्। (अमृतꣳसम्राट्) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत्। (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत्। एवं सभासदोऽपि मन्येरन्। एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः॥ ६॥

सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि—(शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखम्) उत्तम कीर्त्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यगुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सब का आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतꣳसम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है, वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है॥ ६॥

राज्य के अंग राजा के अंग के समान

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥

—(यजु०२०.७)

(बाहू मे बलम्) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियꣳ हस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्य्यं) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत्॥७॥

(बाहू मे बलम्) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳ हस्तौ०) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य, धैर्य, और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान हैं॥७॥

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। उरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥८॥ (यजु०२०.८)

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थीकरणं तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् (उरू अरत्नी) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति। (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत्। एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति। यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्येति॥८॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) जो उत्तम राज्य है, सो मेरी पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य-सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (उरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और

गणितविद्या से निपुण करना है, सो ही अरत्नी और उरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह मेरी जानु के समान है। (विशोऽमेङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अङ्गों के समान हैं॥८॥

[नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः।।९।।]

—(यजु०२०.९)

[(नाभिर्मे चित्तम्) मेरी नाभि विद्या का तथा (विज्ञानं पायुर्मे) गुह्येन्द्रिय अर्थात् अपानवायु विज्ञान का निमित्त हो (अपचितिर्भसत्) स्त्री का प्रजननेन्द्रिय उत्तम प्रजा को उत्पन्न करने वाला हो, इसी प्रकार (भगः सौभाग्यं पसः) मेरा उपस्थेन्द्रिय पुत्रादि सौभाग्य को बढ़ाने वाला और वीर्य के समतुल्य हो, (जङ्घाभ्यां पद्भ्यां०) जंघा और पद से युक्त होकर श्रेष्ठ पुरुषार्थ से मैं धर्मात्मा हूँ॥९॥]

न्यायपूर्ण राजधर्म में ईश्वर की प्रतिष्ठा

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥१०॥ (यजु०२०.१०)

(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतितिष्ठितौ भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च। (प्रत्यश्वेषु०) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि। (प्रत्यङ्गेषु०) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मानमात्मानं प्रति तिष्ठामि। (प्रति प्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रति च तिष्ठामि। (प्रति द्यावापृथिव्योः०) दिवं दिवं प्रति, पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि। (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति। मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः। एवं राजपुरुषैश्चापि

प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयो, यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति॥१०॥

(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि—हे मनुष्यो! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उनके क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूँ और वे सदा मेरे समीप रहते हैं। (प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु) उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूँ। (प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना, राजा के अङ्गों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूँ। (प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूँ। (प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सबके बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूँ। इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण देखो। जिन लोगों को ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है॥ १०॥

परमात्मा को राजा मानने वाला अपराजेय

त्रा॒ता॒र॒मिन्द्र॑मवि॒ता॒र॒मिन्द्र॒ꣳ हवे॑हवे सुहव॒ꣳ शू॒र॒मिन्द्र॑म्।
ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्र॑ꣳ स्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्र॑॥११॥

—(यजु०२०.५०)

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्यवन्तं, (सुहवꣳ शूरमिन्द्रम्) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रम्) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतम्) बहुभिः शूरैः संसेवितं, (इन्द्रम्) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रꣳ हवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थं इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि)

आह्वयामि आश्रयामि। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु निरन्तरं विजयसुखं दधातु॥ ११॥

(त्रातारमिन्द्रम्) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, (अवितार०) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला है, (सुहवꣳशूरमिन्द्रꣳहवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध कराने वाला, शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादिशास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देने वाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता॥ ११॥

राजा की योग्यता सोमगुणसम्पन्नता

इ॒मं दे॑वाऽअसप॒त्नꣳ सु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑। इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒श एष वो॑ऽमी॒ राजा॒ सोमो॒ऽस्माक॑ं ब्राह्म॒णाना॒ꣳ राजा॑॥ १२॥ (यजु०९.४०)

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्यस्य प्रकाशवन्न्याययव्यवहार-प्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमम् असपत्नꣳ सुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्यसहितं कुरुत। यूयमप्येवं जानीत— (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन्

राजास्तु। हे सभासदः! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या—(एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीस्ति। एतदर्थं वयं (इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति॥ १२॥

(इमं देवा असपत्नम्) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्तिराज्य, श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक-ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये, तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वम्) अच्छे-अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो कि जिन से सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय॥ १२॥

परमेश्वर ही राजा

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।

च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो भव॒ेह॥ १३॥ (अथर्व०६.९८.१)

(इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वर सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु। (न पराजयातै) स मा कदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम्। (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति। (भवेह) हे महाराजेश्वर! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव। भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्तिराज्ये सदा

सत्कृता भवेम॥ १३॥

(इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला, (न परा जयातै) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता, (अधिराजः) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वन्दना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सबको शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करानेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये। और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें॥ १३॥

ईश्वरीय गुणों वाला राजा उत्तम

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु॥ १४॥

—(अथर्व०६.९८.२)

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि, 'श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च' स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु। (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन्! त्वं भूः सदा भवसि। यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु। (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) हे जगदीश्वर! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं

भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु॥ १४॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देने वाले, (त्वं देवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य, प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको यह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो॥ १४॥

ईश्वर का आशीर्वाद सत्य और न्याय के लिये

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ १५॥

—(ऋ०१.३९.२)

(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः॥ १५॥

(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनाविषय में कर दिया है॥ १५॥

हे मनुष्या! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया च पराजयकरणाय सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषि सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु। येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्याद् दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्। (मा मर्त्यस्य मा०)

परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि, किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद् ददामीत्यभिप्रायः॥१५॥

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो! तुम लोग सब काल में उत्तम बल वाले हो। किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों। तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें। (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें। (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों। तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो। जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्तिराज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे। (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उनके लिये नहीं। किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो॥१५॥

सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष ये सब सभा के आधीन

तं स॒भा च॒ समि॑तिश्च॒ सेना च॒॥१६॥ (अथर्व०१५.९.२)

(तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत। (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्यात्॥१६॥

(तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान

के, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें॥१६॥

राजा होने के गुण

इ॒मं वी॒रमनु॑ हर्षध्वमु॒ग्रमिन्द्रं॑ सखायो॒ अनु॒ सं र॑भध्वम्।
ग्रा॒मजि॑तं॒ गो॒जितं॑ वज्र॒बाहुं॑ जय॑न्त॒मज्म॑ प्रमृ॒ण॑न्त॒मोज॑सा॥ १७॥

—(अथर्व०६.९७.३)

ईश्वरः सर्वान् मनुष्यान् प्रत्युपदिशति—(सखायः) हे सखायः! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रम्) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं (अनु हर्षध्वम्) सर्वे यूयमनुमोदयध्वम्, एवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु संरभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत। कथम्भूतं तं? (ग्रामजितम्) येन पूर्वं शत्रूणां समूहाः जिताः (गोजितम्) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुम्) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य (जयन्तम्) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिसन्तम् (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः॥ १७॥

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—(सखायः) हे बन्धु लोगो! (इमं वीरम्) हे शूरवीर लोगो! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके, (अनु हर्षध्वम्) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो। (उग्रमिन्द्रम्) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक समिति होकर (अनु संरभध्वम्) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो। (ग्रामजितम्) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितम्) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है (वज्रबाहुम्) प्राण जिसके बाहु और (जयन्तम्) जो हम सबको जिताने वाला है, (अज्म) उसीको इष्ट जान के हम

लोग अपना राजा मानें (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है॥१७॥

सभासद् सभ्य

सभ्यꣳ सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।

त्वयेद्राः पुरुहूत विश्वमायुꣳ व्यश्नवम्॥१८॥ (अथर्व०१९.५५.६)

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर! मे मम सभां यथावत् पालय। म इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात् सर्वान् मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद्रक्षन्तु (त्वयेद्राः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजितः परमात्मन्! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद् गा इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति (विश्वमायुर्व्यश्नुवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम्॥१८॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिए। (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य-न्याय की रक्षा करें। (त्वयेद्राः पुरुहूत०) हे सब के उपास्यदेव! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगें॥१८॥

ब्राह्मणग्रन्थ के अनुसार राजा और प्रजा के धर्म

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथ-ब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा-

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके। इसके आगे

वेद की सनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहाँ लिखते हैं—

राजा का स्वभाव दुष्टों के प्रति दमनकारी और सज्जनों के प्रति शान्त

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम्॥१॥ (ऐ०ब्रा०८.१.२)

(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मनः, श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सोम्या भवेयुः। तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य इति। कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद्, द्वितीयमुग्रवदर्थात् क्वचिद्देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद्विपर्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत्क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति। तथा (मन्द्रः ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो, दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्युत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति॥१॥

(जनिष्ठा उग्रः०) राजाओं की सेना और सभाओं में जो पुरुष हों वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख-दुःख के सहन करनेवाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना, यही राज्य का स्वरूप है। (मन्द्र ओजिष्ठ०) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है, वही राज्य का स्वरूप है॥१॥

क्षत्रिय धर्म सबसे श्रेष्ठ

बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत्क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धय यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् बृहत्पृष्ठं भवति॥२॥

—(ऐ०ब्रा०८.१.२)

(बृहत्पृष्ठं०) यत्क्षत्रं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति। तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति। एतनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति। नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति। तस्मात् क्षत्रं सर्वस्मात् कर्मणो बृहद्यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति। तथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात् तत्क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति॥ २॥

क्योंकि राज्यव्यवहार सबसे बड़ा है। [तथा निर्बलों का रक्षक होकर पुनः उत्तम सुख देने वाला होता है। इस कहे गये क्षत्रिय के कर्म से मनुष्य का राजकर्म वृद्धि को प्राप्त होता है, इसके विना क्षात्रधर्म की वृद्धि नहीं हो सकती। इस कारण क्षत्रिय का धर्म सभी कर्मों से महान् है तथा प्रजाओं और राजपुरुषों को आत्मा के समान आनन्द देता है। यह क्षात्रधर्म समस्त संसार को निरन्तर सुख का सम्पादन करने में समर्थ है, इसलिये क्षत्रिय का धर्म सबसे बढ़कर है।] इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रखकर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिए॥ २॥

ब्रह्म में क्षत्र और क्षत्र में ब्रह्म प्रतिष्ठित

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म॥ ३॥

—(ऐ०ब्रा०८.१.३)

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति। नैव कदाचित् सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः। तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति। नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः। तस्माद् विद्याराजव्यवहारो मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति॥ ३॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान्

ब्राह्मण है, [उसीमें क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है। सत्यविद्या के विना क्षात्रधर्म की वृद्धि और रक्षा कभी नहीं हो सकती। तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजा में ब्रह्मा अर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठित होती है। इसके विना विद्या की वृद्धि और रक्षा नहीं हो सकती। इसलिये विद्या और राजव्यवहार मिल कर ही राष्ट्र की सुख की उन्नति कर सकते हैं।] वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है॥३॥

ओज, क्षत्र और राजन्य से राज्य में समृद्धि

ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं पञ्चदश, ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति। तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत्॥४॥ (ऐ०ब्रा०८.१.३)

(ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम्। कुत 'ओज एव क्षत्रं, वीर्यमेव राजन्य' इत्युक्तत्वात्। तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्येण राजन्यैनेनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति। इदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत्कर्मास्तीति॥४॥

उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है॥४॥

स्वराज्य आदि की प्राप्ति के लिये सभा

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय महाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति॥५॥ (ऐ०ब्रा०८.२.६)

(तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहम् अनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरिराजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायां०) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च (रोहामि) वर्द्धमानो भवामीति॥ ५॥

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राजों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं॥ ५॥

क्षत्र के ब्रह्म के वश में होने पर ही राष्ट्र में समृद्धि

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति। ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥ ६॥ (ऐ०ब्रा०८.२.९)

(नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्यात्। यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद्भवति। तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः॥ ६॥

[परमेश्वर को तीन या चार बार नमस्कार करके राजकर्म का आरम्भ करना चाहिये। जो क्षत्र ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के वश में रहता है, वह राष्ट्र सुसम्पन्न और वीरवान् होता है, उसी राष्ट्र में वीरपुरुष उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं, ऐसा परमेश्वर ने

कहा है।]

इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं॥६॥

परमात्मा ही राजा

सप्रजापतिका, अयं वा देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव॥७॥

—(ऐ०ब्रा०८.३.१२)

(सप्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेण सह वर्त्तमाना भवेयुः। सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित् सुखहानिपराजयौ स्याताम्। यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति। वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवंभूत-स्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वाद् इन्द्रमित्याहुः॥७॥

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है। (सप्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है। तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सबसे उत्तम है। वही हमको सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त करानेवाला है। उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं। तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त है॥७॥

परमात्मा ही चक्रवर्ती सम्राट्

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति। स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत्॥८॥

—(ऐ०ब्रा०८.३.१४)

(सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यम्) सार्वभौमराज्यं, (भोजम्) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरम्) उत्तमभोगानां रक्षकं, (स्वराजम्) राजकर्मसु प्रकाशमानं, सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यम्) स्वकीयराज्यपालनं (विराजम्) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यम्) विविधराज्यप्राप्ति-करं, (राजानम्) श्रेष्ठैश्वर्येण प्रकाशमानं, (राजपितरम्) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनम्) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यम्) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं (क्षत्रमजनि) प्रादुर्भवतीति। अजनीति 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (अष्टा०३.४.६) इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः, (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति। (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः०) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचित् मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः॥८॥

वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा, और वही हमको भी चक्रवर्ति राज्य देने वाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करने वाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है। तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसीको हम राजा और सब

राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसीकी कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ। तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूँ॥८॥

राजा होने योग्य गुण

स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौराज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिंल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्ग्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति॥९॥ (ऐ०ब्रा०८.४.१९)

यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत् स (एतेनेन्द्रेण०) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः, (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान्, (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमाँल्लोकाँश्च विन्दति प्राप्नोति। सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तामतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता सभा, तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन् स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि (स्वयम्भूः) स्वाधीनः, (स्वराट्) स्वप्रकाशः, (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन् सर्वान् कामानाप्नोति। (आप्त्वामृतः) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति। (यमेतेनैन्द्रेण०) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं

सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति। तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम्॥९॥

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बनकर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है॥९॥

राजसभा से प्रबन्ध किया राज्य सुखकारी

क्षत्रं वै स्विष्टकृत्॥ (श०ब्रा०१२.८.३.१९)

क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम॥१०॥ (श०ब्रा०१२.८.३.२३)

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद् राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत् प्रजापालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृद् अर्थाद् इष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्त्तृ च भवति। (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति॥१०॥

(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करने वाला है, (साम्राज्यं०) वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है॥१०॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय के समन्वय से लक्ष्मी

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः

श्रीः परिगृहीता भवति॥ (श०ब्रा०१३.१.५.३)

युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्॥ ११॥ (श०ब्रा०१३.१.५.६)

(ब्रह्म वै०र) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्र२०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुमर्हति। (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति। नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्याः श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यम् —युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति। नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित् प्राप्तिर्भवति। कुतः? निघण्टौ (अष्टा०२.१७) संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन् स महाधनः संग्रामो, नास्माद्विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः॥११॥

(ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने योग्य है। (क्षत्र२०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादिगुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है, सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती (युद्धं वै०) यहाँ इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही उसका बल होता है। उसके विना धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है। सो उसको महाधन इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े-बड़े उत्तम पदार्थ होते हैं, क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता है॥ ११॥

राष्ट्रपालन ही अश्वमेध यज्ञ

राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ १२॥ (श०ब्रा०१३.१.६.३)

(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति। नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति॥ १२॥

{राष्ट्र०} और जो न्याय से राज्य का पालन करता है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है। किन्तु घोड़े को मार के उसके अङ्गों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है॥ १२॥

राजा के गुण

राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे॥ १३॥ (श०ब्रा०१३.१.९.२)

(राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति, तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात् कारणाद् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो (जज्ञे) जातोऽस्ति, नैव कदाचित् तस्मिन् भयदुःखे सम्भवतः॥ १३॥

(राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा अब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है, तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अतिचतुर, और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष से जाने आनेवाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते॥ १३॥

राष्ट्र

श्रीर्वै राष्ट्रम्॥ (श०ब्रा०१३.२.९.२)

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमागुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति।

[जो विद्या आदि उत्तम गुणरूपा नीति है, वही राष्ट्र होती है।]

राष्ट्र का स्वरूप

श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥ (श०ब्रा०१३.२.९.३)

(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति।

[उत्तम गुणवाली नीति ही राष्ट्र का स्वरूप है।]

राष्ट्र का मध्य

श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्॥ (श०ब्रा०१३.२.९.४)

(श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति।

[उत्तम गुणवाली नीति ही राज्य का मध्यभाग होती है।]

राष्ट्र की रक्षा

क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्॥ (श०ब्रा०१३.२.९.५)

(क्षेमो वैरा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति।

[उत्तम गुणवाली नीति ही क्षेम अर्थात् राष्ट्र की रक्षा है, इसके कारण ही राष्ट्र में शयन के समान निरुपद्रव सुख होता है।]

राज्य का प्रबन्ध किसी एक के हाथ में उचित नहीं

विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः॥

—(श०ब्रा०१३.२.९.६)

(विड्वै गभो०) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद्यद्राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात् करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्री वि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति, तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात्

सभयैव राज्यप्रबन्धं कर्तुं शक्योऽस्ति।

[विट् अर्थात् प्रजा की गभ (योनि) संज्ञा है तथा राष्ट्र को पस (लिङ्ग) कहते हैं। इसलिये राष्ट्रसम्बन्धी कर्म में प्रजा (योनि) में प्रविष्ट होकर उसका आहनन करता है अर्थात् कर के माध्यम से प्रजा के उत्तम-उत्तम पदार्थों का हरण किया जाता है। यही कारण है कि जहाँ एकाकी पुरुष राजा होता है, वहाँ प्रजा सदा पीड़ित रहती है, इसलिये एकाकी पुरुष को राजा नहीं बनाना चाहिये, एक पुरुष में राजधर्म के अनुष्ठान में पर्याप्त सामर्थ्य नहीं होता, इस कारण सभा के माध्यम से ही राज्यप्रबन्ध करना उचित है।]

एकाकी राजा के लिये प्रजा पुष्ट पशु के समान भक्षणीय

विशमेव राष्ट्र्याद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति॥१४॥ (श०ब्रा०१३.२.९.८)

(विशमेव राष्ट्र्या०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात् स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान् पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशु म०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते। तस्मात् सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादिका मन्त्रा बहवः सन्तीति॥१४॥

[(विशमेव राष्ट्र्या०) जहाँ राजा एकाकी शासन करता है, वहाँ प्रजा भक्षणीय पदार्थ के समान भोज्य बन कर पीड़ित होती है। क्योंकि वह राजा अपने सुख के लिये उत्तम पदार्थों का हरण करता हुआ प्रजा को पीड़ित करता है, इसलिये एकाकी शासन करने वाला राजा प्रजा को खा लेता है। (न पुष्टं पशु म०) जिस प्रकार मांसाहारी पुष्ट पशु को देखकर उसका वध करना चाहता है, उसी प्रकार राजा मुझसे

अधिक कोई और न हो जाये, इस ईर्ष्या के कारण प्रजा के किसी व्यक्ति के उत्कर्ष को सहन नहीं करता। इसलिये सभा के माध्यम से राज्यप्रबन्ध होने में ही प्रजा का कल्याण है। इस प्रकार राजधर्म का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र बहुत से हैं।]

(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है। तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसीसे किसी की उन्नति नहीं होती॥१४॥

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त बराबर चला आया है, जिसका साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है, उसको छोड़ के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है। और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिये वे लोग सत्यन्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है। अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

Pustakam

(२३) अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

वर्णव्यवस्था

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्युक्तस्तदर्थश्च। तस्यायं शेषः—

अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिए कि प्रथम मनुष्य जाति सब की एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं। वर्णों के प्रतिपादन करने वाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहाँ भी लिखते हैं—

मनुष्य जाति के दो भेद : आर्य और दस्यु

मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इसके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि 'विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो०' अर्थात् इस मन्त्र में परमेश्वर उपदेश करता है कि हे जीव! तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जान ले। तथा 'उत शूद्रे उत आर्ये' इस मन्त्र से भी आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अनार्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा 'असुर्या नाम ते लोका०' इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण, कर्मों से किये गये हैं।

वर्ण का लक्षण

वर्णो वृणोतेः॥१॥ (निरु०२.३)

वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः॥१॥

(वर्णो०) इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुण कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए।

ब्राह्मण और क्षत्रिय का लक्षण

ब्रह्म हि ब्राह्मणः। क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः॥२॥

—(श०ब्रा०५.१.१.११)

(ब्रह्म हि ब्राह्मणाः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव (क्षत्रꣳ हीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकारणाद् युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः, (क्षत्रꣳ राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति॥२॥

[ब्रह्म अर्थात् वेद और परमेश्वर की उपासना के साथ विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त पुरुष ब्राह्मण होने के योग्य होता है। उसी प्रकार क्षत्र अर्थात् क्षत्रियकुल का जो पुरुष इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान्, शत्रुओं का नाश करने में समर्थ और युद्ध के लिये उत्सुक तथा प्रजापालन के लिये तत्पर रहता है, वह क्षत्रिय होने के योग्य है।]

क्षत्रिय का लक्षण

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः॥ (श०ब्रा०५.४.१.१५) वीर्य्यं वा एतद्राज्यस्य यद्बाहू, वीर्य्यं वा एतदपाꣳरसः॥ (श०ब्रा०५.४.१.१७) इषवो वै दिद्यवः॥३॥ (श०ब्रा०५.४.२.२)

(मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद्भवेताम्, (वा) अथवा (वीर्यम्) पराक्रमो बलं चैतदुभयं (राजन्यस्य) क्षत्रियस्य बाहू भवतः, (अपाम्) प्राणानां, यो (रसः) आनन्दस्तं

प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते, तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत्, (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः॥३॥

[(मित्रः) सबको सुख देने वाला, (वरुणः) उत्तम गुण और कर्म को धारण करने में श्रेष्ठ ये दो ही क्षत्रिय की दो भुजाएँ होती हैं (वा) अथवा (वीर्यम्) पराक्रम और बल ये दोनों (राजन्यस्य) क्षत्रिय की भुजाएँ हैं। (अपाम्) प्राणों का जो (रसः) आनन्द है, उसे प्रजाओं को देते रहने से क्षत्रियों के वीर्य की वृद्धि होती है, उसके (इषवः) बाण अर्थात् शस्त्रास्त्र (दिद्यवः) सदा प्रकाशक हों।]

(ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। (क्षत्रꣳ हि०) परम ऐश्वर्य (बाहू०) बल, वीर्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं॥३॥

आश्रमव्यवस्था

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या। गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्या। वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्यम्। संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया।

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ

जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है।

ब्रह्मचर्याश्रम

एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः।

इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।

अत्र ब्रह्मचर्याश्रमे प्रमाणम् —

इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उनमें से कुछ यहाँ भी लिखते हैं—

आ॒चा॒र्य॑ उप॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिण॑ं कृणुते॒ गर्भ॑म॒न्तः।
तं रात्री॑स्ति॒स्र उ॒दरे॑ बिभर्ति॒ तं जा॒तं द्रष्टु॑मभि॒संय॑न्ति दे॒वाः॥१॥

—(अथर्व॰११.५.३)

(आचार्य उ०) आचार्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति। तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्यन्तमुदरे बिभर्त्ति, अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति, पठनस्य च रीतिमुपदिशति। यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति। अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति॥१॥

Pustakam

(आचार्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम कहाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य और पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इसलिये उसको प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रिपर्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती है। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं॥१॥

ब्रह्मचारी की तीन समिधाएँ तीन विद्याएँ

इ॒यं स॒मित् पृ॑थि॒वी द्यौर्द्वि॒तीयो॒तान्तरि॑क्षं स॒मिधा॑ पृणाति।
ब्र॒ह्म॒चा॒री स॒मिधा॒ मेख॑लया॒ श्रमे॑ण लो॒कांस्तप॑सा पिपर्त्ति॥ २॥

—(अथर्व०११.५.४)

(इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधया स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति। (समिधा) अग्निहोत्रादिना, (मेखलया) ब्रह्मचर्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्त्ति पुष्टान् प्रसन्नान् करोति॥ २॥

(इयं समित्०) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है॥ २॥

वेद का अध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी ब्राह्मण

पूर्वो॑ जा॒तो ब्रह्म॑णो ब्रह्मचा॒री घ॒र्मं वसा॑न॒स्तप॒सोद॑तिष्ठत्।

तस्मा॑ज्जा॒तं ब्राह्म॑ण॒ं ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठं दे॒वाश्च॒ सर्वे॑ अ॒मृते॑न सा॒कम्॥ ३॥

—(अथर्व०११.५.५)

(पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन् ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, [पूर्वः] सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति। तस्मात् कारणात् (ब्रह्म ज्येष्ठम्) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्म ज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणम्) ब्रह्मविदं (जातम्) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति॥ ३॥

(पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व में पढ़ के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों को कल्याण करता है (ब्रह्म ज्येष्ठं०) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं॥ ३॥

ब्रह्मचारी विद्या को प्राप्त कर गृहाश्रमी

ब्र॒ह्म॒चा॒र्ये॑ति स॒मिधा॒ समि॑द्धः॒ काष्ण्यं॑ वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः।

स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॑गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत्॥ ४॥

—(अथर्व०११.५.६)

(ब्रह्मचार्येति) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (काष्ण्यं) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षितः

(एति) परमानन्दं प्राप्नोति। तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्रात् (उत्तरम्) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति। एवं निवासयोग्यान् सर्वान् (लोकान्सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति॥ ४॥

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े-बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है। तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतर के उत्तर समुद्रस्वरूप, गृहाश्रम को प्राप्त होता है, और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है॥ ४॥

ब्रह्मचारी शुभगुणों का प्रकाशक और अशुभगुणों का निवर्तक

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांसस्ततर्ह॥ ५॥

—(अथर्व०११.५.७)

(ब्रह्मचारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन्, (अपः) प्राणान्, (लोकम्) दर्शनं, (परमेष्ठिनम्) प्रजापतिं (विराजम्) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्यवत् प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाखण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान् निवारयति। यथेन्द्रः सूर्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति॥ ५॥

(ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जान के प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है॥ ५॥

ब्रह्मचर्य के बल से राष्ट्र की रक्षा

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ ६॥ (अथर्व०११.५.१७)

(ब्रह्मचर्येण०) तपसा ब्रह्मचर्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति। आचार्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति॥ ६॥ अत्र प्रमाणम् —

'आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा'॥ (निरु०१.४)

(ब्रह्मचर्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है। आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है॥ ६॥

सुशिक्षित स्त्री-पुरुष का विवाह

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥ ७॥ (अथर्व०११.५.१८)

(ब्रह्मचर्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वसदृशं वा। अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम्। ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति। अतो मनुष्यैत्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः॥ ७॥

(ब्रह्मचर्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे। इसी प्रकार

पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख-दुःख में सहायकारी हों। क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय, तो अत्यन्त बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है॥७॥

ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥८॥ (अथर्व०११.५.१९)

(ब्रह्मचर्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो, ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च, मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाघ्नत नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा। ब्रह्मचर्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे, यथा इन्द्रः सूर्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चारभरद्धारयति, तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति। अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते। अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः। किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धाः भवन्त्येति॥८॥

(ब्रह्मचर्येण त०) ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीत के मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित हो के सब को प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है॥८॥

इति ब्रह्मचर्याश्रमविषयःसंक्षेपतः

गृहस्थाश्रम

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत् स॒भाया॑ं॒ यदि॑न्द्रि॒ये।

यदे॑न॒श्चकृ॒मा व॒यमि॒दं तदव॑यजामहे॒ स्वाहा॑॥ ९॥ (यजु०३.४५)

(यद् ग्रामे) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु। यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं, तत्सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः॥ ९॥

(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे, और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं। परन्तु उनसे जो विशेष कहना है सो यहाँ लिखते हैं—गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो-जो काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें॥ ९॥

गृहस्थ की उन्नति का आधार सत्यव्यवहार

दे॒हि मे॒ ददा॑मि ते॒ नि मे॑ धेहि॒ नि ते॑ दधे।

नि॒हार॑ं च॒ हरा॑सि मे नि॒हार॒ं निह॑राणि ते॒ स्वाहा॑॥ १०॥ (यजु०३.५०)

(देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति, हे जीव! त्वमेवं वद—[मे] मह्यं देहि,

मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि [ते] तुभ्यं [ददामि]। [मे] मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च [धेहि] धारय, [ते] तुभ्यं त्वदर्थमहप्येवं च [दधे]। तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च [हरासि] प्रयच्छ, तथैवाहमपि [ते] तुभ्यं त्वदर्थं [निहराणि] नित्यं प्रयच्छानि ददानि। स्वाहेति सत्यभाषणं, सत्यमानं सत्याचरणं, सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः॥१०॥

परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूँगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं च हरामि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा, इस को भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है॥१०॥

गृहाश्रमी के लिये पदार्थों के संग्रह का विधान

गृहा॒ मा बि॑भीत॒ मा वे॑पध्व॒मूर्जं॒ बिभ्र॑त॒ऽएम॑सि।

ऊर्जं॒ बिभ्र॑द्वः सु॒मनाः॑ सु॒मे॒धा गृ॒हानै॑मि॒ मन॑सा॒ मोद॑मानः॥११॥

—(यजु०३.४१)

(गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत। गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत। तथा (मा वेपध्वम्) मा कम्पध्वम्। (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः, पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत। (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत् सन् (सुमनाः)

शुद्धमनाः, सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः, (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि॥११॥

(गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो, और उससे डरो व कंपो मत। किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि, मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं॥११॥

विवाह के साक्षी आचार्यादि

येषा॑म॒द्ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः।

गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥१२॥ (यजु०३.४२)

(येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति, तत्र प्रवसन् येषां यान् पदार्थान् सुखकारकान् स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्यादीन् निमन्त्रयामहे। (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान् युवावस्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति॥१२॥

(येषामध्येति०) जिन घरों में वसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र, बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक-ठीक प्रतिज्ञा करने वाले जानें अर्थात् हमारे साक्षी हों॥१२॥

गृहाश्रम में समस्त भौतिक साधनों की प्राप्ति

उप॑हूताऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअजा॒वयः॑। अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः। क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳश॒ग्मꣳशं॒योः॒शं॒योः॥ १३॥

—(यजु०३.४३)

(उपहूता इह०) हे परमेश्वर! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशा-ह्लादयः उपहूताः अर्थात् सम्यक् प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु। (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु। (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति, तान् पूर्वोक्तान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि। तत्प्राप्त्या (शिवम्) निश्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मम्) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम्। शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति। परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः॥ १३॥

(उपहू०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने-पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'वः' यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः' यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है॥ १३॥

इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः

वानप्रस्थाश्रम

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः—

[अब वानप्रस्थाश्रम के विषय में संक्षेप में बताते हैं—]

वानप्रस्थी

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति॥ १॥ (छान्दो०२.२३.१)

(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च। तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षितधर्मानुष्ठानेनाचार्यकुले वसति। द्वितीयो गृहाश्रमी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्, स वानप्रस्थाश्रमी। एते सर्वे ब्रह्मचर्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते नान्यथेति॥ १॥

(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध है—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में वस के विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक-ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है॥१॥

(इति वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः)

संन्यासाश्रम

(अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः—)

[अब संन्यासाश्रम के विषय में संक्षेप में बताते हैं—]

संन्यासाश्रम में प्रवेश : प्रथमपक्ष

ब्रह्मचर्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य संन्यासी भवेत्। अर्थात्

'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्'—इत्येकः पक्षः।

तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं—उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे।

संन्यासाश्रम में प्रवेश : द्वितीयपक्ष

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा'

अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयात् — इति द्वितीयः पक्षः।

दूसरा 'यदहरेव प्र०' जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक-ठीक सत्यमार्ग में निश्चित होजाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है।

संन्यासाश्रम में प्रवेश : तृतीयपक्ष

'ब्रह्मच्चर्यादेव प्रव्रजेत्'

सम्यग्ब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयात् — इति तृतीयः पक्षः।

और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले।

संन्यासाश्रम प्रवेश में ब्रह्मचर्य का विकल्प नहीं

सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति। कुतः? ब्रह्मचर्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः।

Pustakam

[सर्वत्र {उपर्युक्त तीनों पक्षों में} अन्य आश्रम का विकल्प दिया है, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान सर्वदा करना चाहिये, इससे यह ज्ञात होता है। कैसे? ब्रह्मचर्याश्रम के विना अन्य आश्रम की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।]

संन्यास से मोक्ष

ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति॥ १॥ (छान्दो०२.२३.१)

(ब्रह्मसꣳस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) (एति) प्राप्नोति॥ १॥

(ब्रह्मसꣳस्थः०) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं॥ १॥

ब्रह्म की प्राप्ति के लिये संन्यास

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति॥ (श०ब्रा०१४.७.२.२५)

(तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुमिच्छन्ति। (ब्रह्मचर्येण०) ब्रह्मचर्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति।

(तमेतं०) और वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं।

पूर्ण विद्वान् तथा कामनाओं से रहित के लिये संन्यास का मार्ग

एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः। अनूचाना विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। (श०ब्रा०१४.७.२.२६)

(एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः, पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति।

एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्युष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति, तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद्भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति। सर्वान् मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति॥ २॥

जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम के विना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हींको सब से उत्तम मानकर 'पुत्रैषणा' अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, 'वित्तैषणा' अर्थात् धन

का लोभ, 'लोकैषणा' अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सबके अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ाके सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं॥२॥

ब्राह्मण के लिये संन्यास

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्॥३॥

—इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि॥

(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वेमेतन्निश्चित्य, तस्यां (सर्ववेदसं०) शिखासूत्रादिकं हुत्वा मुनिर्मननशीलः सन्, प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति।

(प्राजापत्या०) अर्थात् इस दृष्टि से शिखा सूत्रादि का होम करके, गृहस्थ आश्रम को छोड़ के, विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें॥३॥

पूर्ण विद्यावान् के लिये संन्यास

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति। तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्। किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं, यद्बाह्यक्रियाम-यमस्ति, संन्यासिनां तन्न। सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः। देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्। विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः। ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं, सर्वेषां भूतानामुपर्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः। सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्य-तासत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः। एवं लक्षणाः, पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्। परन्त्वैकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामे-

कमेव भवतीत्ययं विशेषः॥३॥

[परन्तु जो पूर्णविद्यावान्, रागद्वेष से रहित, सब मनुष्यों की उपकारबुद्धि वाले हैं, उन्हें ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकार है, नाममात्र के पढ़े-लिखे लोगों के लिये नहीं। उन संन्यासियों को प्राण और अपान का होम, दोषों से मन और इन्द्रियों का निवर्तन, सत्यधर्म का अनुष्ठान और अग्निहोत्र करना चाहिये। किन्तु पूर्व के तीन आश्रमियों के अनुष्ठानयोग्य जो बाह्य क्रियाएँ हैं, वे संन्यासियों के लिये करणीय नहीं हैं। सत्योपदेश ही संन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मोपासना ही देवयज्ञ है। विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना पितृयज्ञ है। अज्ञानियों का ज्ञान का दान, सब प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करना और उन्हें पीड़ा न पहुँचाना भूतयज्ञ है। सब मनुष्यों के उपकार के लिये भ्रमण करना, अभिमानरहित होना और सत्योपदेश के द्वारा सब मनुष्यों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है। इस प्रकार के लक्षण वाले पञ्चमहायज्ञ विज्ञानमय और धर्मानुष्ठानमय होते हैं, यह जानना चाहिये। परन्तु एक अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणगुण वाले परब्रह्म की उपासना और सत्यधर्म का अनुष्ठान सभी आश्रमियों पर समान रूप से लागू होते हैं, यह इसमें विशेष है।]

संन्यास की सेवा से समस्त कामनाओं की सिद्धि

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।

तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥४॥

—(मुण्ड०३.१.१०)

(विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा०) ध्यानेन संविभाति इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, (तं तं लोकं तांश्च कामान्) जायते प्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः, (आत्मज्ञं०) परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्यात्। तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदालोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति।

तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाखण्डिनः कोऽपि नैवार्चयेत्। कुतः? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति॥४॥

(यं यं लोकं०) वह शुद्ध मन से जिस-जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उसकी सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे॥४॥

चारों आश्रमों की उपयोगिता

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ़ कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः।।

Pustakam

(२४) अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

पञ्चमहायज्ञ

ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञास्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्तस्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः।

अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहिये, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिसमें अङ्गों के सहित वेदादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इसमें पठन-पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन-पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं, वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं, वैसा जान लेना।

अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—

अग्निहोत्र

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒तातिं॑थिम्। आस्मि॑न् ह॒व्या जु॑होतन॥ १॥

—(यजु०३.१)

(समिधाग्निं०) हे मनुष्या! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय, (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत।

(अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत॥१॥

(समिधाग्निं०) हे मनुष्यो! तुम लोग वायु, ओषधी और वर्षाजल की शुद्धि से, सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र या ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशर, कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो॥१॥

अग्निहोत्र में अग्नि का उपयोग भृत्यवत्

अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे। दे॒वाँ२॥ऽआ सा॑दयादि॒ह॥२॥

—(यजु०२२.१७)

(अग्निं दूतम्) अग्निहोत्रकर्त्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये। कथम्भूतमग्निं? (हव्यवाहम्) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट्, तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून् प्रत्युपदिशानि (देवां२॥०) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयादासमन्तात् प्रापयति॥२॥

(अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुँचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचाने वाला है। इसीसे उसका नाम 'हव्यवाट्' है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूँ कि वह

अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म में पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवाँ२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है। ॥२॥

यद्वा

हे परमेश्वर! (दूतम्) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निम्) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरो दधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहम्) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद्वहति प्रापयतीति तं त्वा (उपब्रुवे) उपदिशानि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु॥२॥

दूसरा अर्थ—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करने वालों के लिये भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें॥२॥

अग्निहोत्र प्रातः सायं दो बार का विधान

सा॒यंसा॑यं गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः प्रा॒तःप्रा॑तः सौमन॒स्यं दा॒ता।

वसोॅर्वसोर्वसु॒दानं एधि व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम॥३॥

—(अथर्व०१९.५५.३)

(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः०) गृहात्मपालकः प्रातःसायं परिचरितः सूपासितश्च (सौमनस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाख्यायते। हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः॥३॥

Pustakam

(सायंसायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर (सौमनस्य दाता) आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहाँ भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने के योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों॥३॥

जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करने का विधान

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनस्यं दाता।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥४॥

—(अथर्व०१९.५५.४)

(प्रातःप्रातःगृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम् — एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः, (शतंहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत् स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः॥४॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतंहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष तक, धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों॥४॥

अग्निहोत्र के लिये आवश्यक उपकरण

अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः

संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात्।

अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ, चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

अग्निहोत्र के मन्त्र

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः—

[अब अग्निहोत्र के मन्त्र दे रहे हैं—]

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के मन्त्र

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा॥ १॥ (यजु०३.९)

(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः॥ १॥

(सूर्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करने वाला है, उसीकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं॥१॥

सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥ (यजु०३.९)

(सूर्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ २॥

(सूर्यो वर्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों सब विद्याओं का देने वाला

और हम से उनका प्रचार कराने वाला है, उसीके अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं॥।२॥

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥ (यजु०३.९)

(ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥३॥

(ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसीकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं॥३॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा॥४॥

—(यजु०३.९)

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै०॥४॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे॥४॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति।

इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं।

इति प्रातःकालमन्त्राः

सायंकालीन अग्निहोत्र के मन्त्र

अथ सायंकालाहुतयः—

अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—

अ॒ग्निर्ज्यो॑ति॒र्ज्यो॑ति॒रग्निः स्वाहा॑॥ १॥ (यजु०३.१०)

(अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ १॥

(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप कर के वायु और वर्षाजल के साथ मिला के शुद्ध करदे। जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो॥ १॥

अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑॥ २॥ (यजु०३.१०)

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै०॥ २॥

(अग्निर्वर्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि को बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है॥ २॥

अ॒ग्निर्ज्यो॑ति॒रिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया॥ ३॥

—(यजु०३.१०)

तीसरी मौन होके प्रथम [अ॒ग्निर्ज्यो॑ति॒र्ज्यो॑ति॒रग्निः स्वाहा॑] मन्त्र से करनी॥ ३॥

अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया। तदर्थश्च पूर्ववत्॥ ३॥

[अग्निर्ज्योतिः इस मन्त्र से तृतीय आहुति देनी चाहिये। इसका अर्थ भी पूर्ववत् है।]

स॒जूर्दे॒वेन॑ स॒वि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या। जुषा॒णोऽअ॒ग्निर्वे॑तु॒ स्वाहा॑॥ ४॥

—(यजु०३.१०)

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या

वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत्॥ ४॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे॥ ४॥

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन्काले सर्वाभिर्वा।

[इन उपर्युक्त आहुतियों से अग्निहोत्री सायंकाल में हवन करता है अथवा एक समय अग्निहोत्र करने पर प्रातःकालीन और सायंकालीन दोनों से हवन करता है।]

उभयकालीन मन्त्र

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ १॥

ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ २॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ३॥

ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ ४॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः॥

[ये सारे मन्त्र तैत्तिरीय उपनिषद् के आशय से संगृहीत किये गये हैं।]

एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः।

इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो। गायत्री मन्त्र के अर्थ में इनके अर्थ कर दिये हैं।

Pustakam

अग्निहोत्र की पूर्णता समर्पण में

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ ६॥

(सर्वं० वै०) हे जगदीश्वर! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्ध-वत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते। तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमप-ञ्चिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायम्प्रातरग्निहोत्रमन्त्रा 'भूर्भुवः स्वरोमि'त्यादयो दर्शिताः॥

[हे जगदीश्वर! जो यह हमारे द्वारा परोपकार के लिये कर्म किया गया है, वह आपकी कृपा से पूर्ण हो, इस हेतु यह कर्म आपको समर्पित है। ऐतरेय ब्राह्मण की पञ्चम पञ्चिका की इकत्तसवीं कण्डिका में सायंकालीन एवं प्रातःकालीन 'भूर्भुवः स्वरोम्' इत्यादि मन्त्र दिये गये हैं।]

अधिक होम गायत्री मन्त्र से

इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो तो, 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़ कर गायत्री मन्त्र से करे।

अग्निहोत्र की सामग्री और उसका प्रयोजन

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च, होत्रं हवनं दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्। ईश्वराज्ञापालनार्थं वा। सुगन्धि-पुष्टि-मिष्ट-बुद्धिवृद्धि-शौर्य-धैर्य-बल-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या, पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमी-श्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम्।

जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं। जो-

जो केशरि, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत, दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़, शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परमसुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है। ऐसे-ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः

पितृयज्ञ

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं।

पितृयज्ञ के दो भेद : तर्पण और श्राद्ध

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च।

उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध।

तर्पण और श्राद्ध का स्वरूप

तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते, नैव मृतकेषु। कुतः? तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थकृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते।

उनमें से जिस कर्म करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है। तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिये। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष

है, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं। क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती। तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है।

तर्पणीय तीन : देव, ऋषि और पितर

सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति। तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च।

क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं। सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर।

देवों के तर्पणीय होने में प्रमाण

तत्र देवेषु प्रमाणम् —

देवों में प्रमाण—

पुनन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑सा॒ धियः॑।

पु॒नन्तु॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑॥ १॥ (यजु॰१९.३९)

(जातवेदः) हे परमेश्वर! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठाः भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपयासुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु॥ १॥

(पुनन्तु) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिए, और जो

आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। और आपके दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें॥१॥

मनुष्यों के दो भेद : देव और मनुष्य

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥

—(श०ब्रा०१.१.१.४)

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः।

(द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उनमें भेद होने के सत्य और झूठ दो कारण हैं।

सत्यवादी देव और अनृतवादी मनुष्य

स वै सत्यमेव वदेद्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति॥ २॥ (श०ब्रा०१.१.१.५)

(सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं, सत्यमानं, सत्यकर्म, तदेव देवा आश्रयन्ति। तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति। अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च। अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च। यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च॥ २॥

(सत्यमेव०) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव, तथा जो झूठ बोलते, झूठ मानते और झूठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहाते हैं।

इसलिये झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करने वाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं॥२॥

विद्वानों की देवसंज्ञा

विद्वाꣳसो हि देवाः॥३॥ (श०ब्रा०३.७.३.१०)

(विद्वा०) तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति॥३॥

(विद्वा०) इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं॥३॥

ऋषियों के तर्पणीय होने में प्रमाण

अथर्षिप्रमाणम् —

(ऋषियों में प्रमाण—)

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवाऽअयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥१॥ (यजु०३१.९)

(तं यज्ञम्०) इतिसृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः॥१॥

(तं यज्ञं०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है॥१॥

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षप्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः

परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः॥१॥

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने योग्य परमेश्वर को, जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से, (देवाः) विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं॥१॥

ऋषिकर्म और ऋषि-ऋण से निवृत्ति

अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्भ्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः॥२॥ (श०ब्रा०१.७.२.३)

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते। यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वविद्याविद्भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः॥२॥

(अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है, वह ऋषिकर्म कहाता है। और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है। इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवा कर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोपः) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है॥२॥

अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो

यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते॥ ३॥ (श०ब्रा०१.४.२.३)

(अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते। य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम्॥ ३॥

(अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करने वाला विद्वान् बहु पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥ ३॥

पितरों के तर्पणीय होने में प्रमाण

अथ पितृषु प्रमाणम् —

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ १॥ (यजु०२.३४)

(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वे यूयं (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः, प्रिया हृद्या अपः, (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधं रसम्, (घृतम्) आज्यम्, (पयः) दुग्धं (कीलालम्) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नम्, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्यात्॥ १॥

(ऊर्जं वह०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि—(तर्पयत मे०) जो-जो हमारे मान्य पिता पितामहादि, माता-मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम-उत्तम जल, (अमृतम्)

Pustakam

रोगनाश करनेवाले उत्तम अन्न, (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो, कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधास्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये और हम लोग जो-जो आप लोगों को इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन-उन की आज्ञा किया कीजिए। हम लोग मन, वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिए, कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो॥१॥

पितर का लक्षण और उनकी सेवा

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥२॥

—(यजु०१९.५८)

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः, (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते (पितरो) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति। (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु। वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। (पथिभिर्दे०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय, हे पितरो! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्याम। (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मन्दो०) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु॥२॥

(आयन्तु नः०) 'पितृ' शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण

होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसे किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसीलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करनेवाले हैं, उनको 'पितर' कहते हैं। उनके सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे इन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—आइये! बैठिये! कुछ जलपान कीजिए और खाने-पीने की आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो-सो प्रीतिर्प्वूक समझाइये, कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शीलस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग-अलग करनेवाली विद्युद्रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें, वा जावें, तब-तब उनको उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान और पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान, और जो कर्मोपासनामार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें॥२॥

पितरों के करणीय कार्य

अत्रा॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम्।

अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत॥ ३॥ (यजु०२.३१)

(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभागम्) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वम्) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवतः। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत॥ ३॥

(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो! आप यहाँ हमारे स्थान में आनन्द कीजिये। (यथाभागवृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये। (अमीमदन्त पितरः) आप यहाँ विद्या के प्रचार से सबको आनन्दयुक्त कीजिए। (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर, अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हमको भी आनन्दित कीजिये॥३॥

पितर ज्ञानदाता

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितर॒: शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितर॒: पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्न॑: पितरो दत्त स॒तो व॑: पितरो देष्मै॒तद्व॑: पितरो॒ वास॒: ॥ ४॥ (यजु०२.३२)

(नमो व०) हे पितरः! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो व पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः०) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु। (गृहान्नः०) हे पितरो! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान्नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त। (सतो वः०) हे पितरो! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्था सन्ति, तान्

वयं वो युष्मभ्यं (देष्मः) दद्मो यतो वयं कदाचिद्भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम। (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते एतद्यूयं प्रीत्या गृह्णीत॥ ४॥

(नमो वः०) हे पितर लोगो! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिये कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो। तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितर लोगो! आप की सत्यशिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें। इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने को विद्या सीखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवारं नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो-जो विद्या अवश्य हैं, सो सो सब आप लोग हम को देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों को देने वाले हैं, इसलिये हम लोग आपको उत्तम-उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिये। तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम-उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिए और प्रसन्न होके सब के सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये॥ ४॥

पितर ब्रह्मचारी को विद्यागर्भ में धारण करने वाले

आधꣳत्त पितरो गर्भꣳकुमारं पुष्करस्रजम्। थेह पुरुषोऽसꣳत्॥ ५॥

—(यजु०२.३३)

(आधत्त पितरो०) हे पितरो! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत। तथा

विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजम्) पुष्पमालाधारिणं (कुमारम्) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत। (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत् स्यात्। येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम्॥ ५॥

(आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा कर के उत्तम विद्या दीजिये, कि जिससे वह विद्वान् होके (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण कर के मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसा ही प्रयत्न आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें॥ ५॥

पितरों की विद्या से स्थिर सुख की प्राप्ति

ये सꣳमा॒नाः समꣳनसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।

तेषा॒ꣳ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिंल्लो॒के श॒तꣳ समाः॑॥ ६॥

—(यजु०१९.४६)

(ये समानाः०)। ये (मामकाः) मदीया आचार्यादयः, (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः, (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिंल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्यन्तं, (कल्पताम्) स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम॥ ६॥

(ये समानाः०) जो आचार्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म, ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत (समानाः) सत्यविद्यादि शुभ गुणों के प्रचार में ठीक-ठीक विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये

छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं, (तेषां०) उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये (अस्मिंल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० वर्ष पर्यन्त स्थिर रहें, जिससे हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें॥ ६॥

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ७॥

—(यजु०१९.४९)

(उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः०) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो, (हवेषु) देयग्राह्यव्यवहारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु। तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्माभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीया नैव मृताश्चेति। कुतः? तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात्ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याच्च॥ ७॥

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय, पक्षपात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋतु अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्यविद्या के जाननेवाले हैं, (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें॥ ७॥

पितरों के प्रकार

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।

तेषां॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म॥ ८॥

—(यजु०१९.५०)

(अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) वयं तेषां यज्ञियानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन्, (स्याम) अर्थाद्भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम॥ ८॥

(अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन-नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्विद्या में चतुर, तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तस्वरूप, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है, उसमें (अपि स्याम) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त हो के सदा आनन्दित रहें॥ ८॥

पितर पक्षपातरहित होकर न्याय करने वाले

ये स॑मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।

तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम्॥ ९॥ (यजु०१९.४५)

(ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः, ये (यमराज्ये) राजसभायां

न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः०) यो न्यायदर्शनं (स्वधा) अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पताम्) समर्थतां, प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति, तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु। अर्थाद्ये सत्यन्यायधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु॥ ९॥

(ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग (यमराज्ये) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त हो के सुखी रहता है, (नमः) उनको हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पक्षपातरहित होके, सत्य व्यवस्था में चल के, अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पताम्) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान रहें॥ ९॥

पितरों से परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग

ये नः॑ पू॒र्वे पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ऽनू॒हि॒रे सो॑मपी॒थं व॑सि॑ष्ठाः।

तेभि॑र्य॒मः स॑ꣳररा॒णो ह॒वीꣳ॑ष्यु॒शन्नु॒शद्भिः॑ प्रतिका॒मम॑त्तु॥ १०॥

—(यजु०१९.५१)

(ये सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथम्) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सꣳराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (हवीꣳषि) विज्ञानादीन्युशन्

सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान् प्राप्नोतु॥१०॥

(ये नः पूर्वे पितरः०) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता, पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करनेवाले हैं, (तेभिर्यमः सꣳर०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है। हे मनुष्य लोगो! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो॥१०॥

पितर पापरहित होने की शिक्षा देने वाले

बर्हिषदः पितरऽऊत्यु॒र्वागि॒मा वो॑ ह॒व्या च॑कृमा जु॒षध्वम्।

तऽआ ग॒तावसा॒ शन्तमे॒नाथा॑ न॒ः शं योर॑र॒पो द॑धात॥११॥

—(यजु०१९.५५)

(बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः, (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान् प्रत्येवं ब्रूमहे—हे विद्वांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा०) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वम्) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन (वो) युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्याम। (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति॥११॥

(बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा

के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब-जब आप हमारे वा हम आपके पास आवें जावें, तब तब (इमा वो हव्या०) हम लोग उत्तम पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें, और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अर्वा०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से और आप लोग (शंत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, (अथा नः शंयोः) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः०) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइये॥११॥

विद्या और उपदेश के दाता पितर

आहं पितॄत्नसुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽइहागमिष्ठाः॥१२॥

—(यजु०१९.५६)

(आहं पितॄन्सुविदत्राँ०) ये बर्हिषदः (स्वधया) अन्नेन (सुतस्य) सोमवल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु। य ईदृशाः पितरः सन्ति, तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद् वेद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च। तान् विदित्वा सङ्गम्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि। यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते। तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात् सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति॥१२॥

(आहं पितॄन्०) मैं जानता हूँ कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक

परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ विविꣳसि) ठीक-ठीक जानता हूँ। (बर्हिषदो ये) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको देवयान कहते हैं। और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता। तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही सङ्ग से जानता हूँ। (स्वध०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं तथा उसमें आप भी (पित्वः०) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देनेवाले होते हैं, वे सर्व हितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे॥१२॥

पितरों से प्रश्न पूछने की विधि

उपंहूताः पितरंः सोम्यासों बर्हिष्येषु निधिषुं प्रियेषुं।
तऽआ गंमन्तु तऽइह श्रुंवन्त्वधिं ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥१३॥

—(यजु०१९.५७)

(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारंमागच्छन्तु। (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु। श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदास्मान् रक्षन्तु॥१३॥

(उपहूताः पितरः०) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु०) उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों, हमको उपदेश करें। (त आगमन्तु) जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि— आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये, (इह श्रुवन्तु) यहाँ

हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये, (अधिब्रुवन्तु०) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिए और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये॥१३॥

अग्निष्वात्त (अग्निविद्याविशेषज्ञ) पितर

अग्निंष्वात्ताः पितर॒ऽएह गं॑च्छत॒ सदं॑ःसदः सदत सुप्रणीतयः।

अ॒त्ता ह॒वीꣳषि॒ प्रयं॑तानि ब॒र्हिष्यथां॑ र॒यिꣳसर्व॑वीरं दधातन॥१४॥

—(यजु०१९.५९)

(अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत। आगत्य (सुप्रीणतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदःसदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत। (अत्ता हवीꣳषि०) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत। (बर्हिष्यथा) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिꣳ सर्ववीरं०) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन। यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः स्थिराः भवेयुः, सत्यविद्याकोशश्च॥१४॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो! आप उपदेशक होकर घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये। फिर वे पितर कैसे होने चाहिये कि—(सुप्रणीतयः) उत्तम गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य-सत्य न्याय करनेहारे हों। तथा (हवी०) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करानेवाले हों। (रयिꣳ सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन हैं, कि जिससे वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश-देश और घर-घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें॥१४॥

अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त (वायुजलभू आदि के विशेषज्ञ) पितर

येऽअंग्निष्वा॒त्ता येऽअनंग्निष्वात्ता॒ मध्यें दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।

तेभ्यं॑: स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां यंथाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति॥१५॥

—(यजु०१९.६०)

(ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः, (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा, अस्मान् सर्वान् जनानानन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेताम्) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम। (यथावशम्) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु। यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छशरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु। यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः॥१५॥

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जाननेवाले, तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानस्वरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग में आनन्दित रहते हैं, (तेभ्यः स्वराडसु०) उनके हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह असुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथावशं तन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिये, कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे॥१५॥

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्ताऩृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः।

ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳस्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥१६॥

—(यजु०१९.६१)

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्या! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद् यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्यम्। (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान् (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु। (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳ स्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम॥ १६॥

(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो! जैसे हम लोग अग्निविद्या और सत्यविद्या के जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं, वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहै। (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले हैं, उनसे हम लोग सत्यविद्या लेके आनन्दित हों। (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हमको सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहैं (वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्) जिससे कि हम लोग सुविद्या के चक्रवर्त्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों॥ १६॥

परमेश्वर से पितरों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॑॥ ऽउ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म।

त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳ सुकृ॑तं जुषस्व॥ १७॥

—(यजु०१९.६७)

(ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्त्यर्थाद् देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (यां २॥ उ च

न०) दूरदेशस्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय। (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नादिभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व। येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत्। (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति, तानस्मान् प्रापय॥ १७॥

(ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (याँश्च विद्म) जिनको समीप होने से हम लोग जानते, और (याँ २॥ उ च न प्रविद्म) जिनको दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते) जो इस संसार के बीच में वर्त्तमान हैं, (त्वं वेत्थ) उन सबको आप यथावत् जानते हैं, कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये (स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं०) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहैं॥ १७॥

पितरों को नमस्कार

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु॥ १८॥

—(यजु०१९.६८)

(इदं पितृभ्यः०) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः०) पूर्वमधीत्य विद्वांस सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ता) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये वा नूनꣳ सु०) ये सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्याक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणेऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् (ईयुः) प्राप्नुयुः। इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं (नमोऽस्तु)॥ १८॥

(इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, (ये अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं। अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जाननेवाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳ सु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें॥१८॥

पितरों की प्राप्ति की कामना

उ॒शन्त॑स्त्वा॒ नि धी॑मह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि। उ॒शन्नु॑श॒तऽआ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ऽअत्त॑वे॥१९॥ (यजु०१९.७०)

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः। (उशन्तः समिधीमहि) हे जगदीश्वर! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह— (हविषे अत्तवे) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदा-नायानन्दभोगाय च। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमान- स्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात् प्रापय॥१९॥

(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहैं। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन्! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये, कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहैं॥१९॥

वसु, रुद्र और आदित्य संज्ञक पितर

पि॒तृभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॑ पितामहे॒भ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नम॒:

प्रपि॑तामहेभ्यः स्वधा॒यिभ्य॑ः स्व॒धा नम॑ः। अक्ष॑न् पि॒तरोऽमी॑मदन्त पि॒तरोऽती॑तृपन्त पि॒तर॒ः। पित॑र॒ः शुन्ध॑ध्वम्॥ २०॥ (यजु०१९.३६)

(पितृभ्यः०) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च, (स्वधा०) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसुसंज्ञकाः। (पितामहेभ्यः०) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्यः०) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः। (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। (अक्षन् पितरः०) हे पितरो! भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्। 'अमीमदन्त पितरः' इति पूर्वं व्याख्यातम्। (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरो यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत॥ २०॥

(पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़ के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है। (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देनेवाले होते हैं, (प्रपितामहेभ्यः०) जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के, हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देख के दिखलाते, और जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना उचित है।

पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं सब गुणों में सूर्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और

लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इसमें 'पुरुषो वाव यज्ञः०' यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख लेना।

(अक्षन् पितरः) हे पितर लोगो! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैला के सुख भोगो। तथा (अमीमदन्त पितरः) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो। (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो। तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें, तो आप लोग हमको शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो! आप हमको धर्मोपदेश और सत्यविद्याओं से शुद्ध करें, कि जिससे हम लोग आपके साथ मिल के सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें॥२०॥

पितरों से पवित्र करने की प्रार्थना

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ २१॥ (यजु०१९.३७)

(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः! पितामहाः! प्रपितामहाश्च! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु। केन पुनन्त्वित्याह—(पवित्रेण) पवित्रकर्मानुष्ठान-करणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्येण मां पुनन्तु। अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम्। येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम्। अत्र 'पुरुषो वाव यज्ञः' [छा०उप०३.१६.१] इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः॥ २१॥

(पुनन्तु मा पितरः०) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। (पुनन्तु मा पितामहाः०) इसी प्रकार पितामह और

प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसलिये कि उनकी शिक्षा को सुन के ब्रह्मचर्य धारण करने से सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहै। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है॥ २१॥

अमावस्या में पितृयज्ञ का उद्देश्य पितरों की सेवा

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभी का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां कहीं अमावस्या में पितृयज्ञ करना लिखा है, वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उनकी सेवा न बन सके, तो महीने अर्थात् अमावस्या में मासेष्टि होती है, उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

इति पितृयज्ञः समाप्तः॥

बलिवैश्वदेव यज्ञ

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

[अब बलिवैश्वदेव की विधि लिखते हैं—]

बलिवैश्वदेव कर्म की सामग्री

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्यम् —

[जो अन्न क्षार और लवण से रहित हो, उसीसे बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिये—]

मनुस्मृति में वैश्वदेव अग्निहोत्र का विधान

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ १॥ (मनु०३.८४)

[ब्राह्मण गार्हस्थ्य अग्नि में पकाये हुए वैश्वदेव के निमित्त अन्न का विधिपूर्वक

प्रतिदिन देवताओं के उद्देश्य से हवन करे।]

बलिवैश्वदेव कर्म में प्रमाण

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम् —

[बलिवैश्वदेव कर्म में प्रमाण देते हैं—]

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥

—(अथर्व०१९.५५.७)

(अग्ने) हे परमेश्वर! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय घासम्) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, (इव) तथैव (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया, (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन्! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम। किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु। सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्याम॥ १॥

(अग्ने०) हे परमेश्वर! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आप की आज्ञापालन के लिये, (अहरहः०) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को (बलि०) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन्! (प्रतिवेशाः) आपकी आज्ञा से उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहैं॥ १॥

पुनन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑सा॒ धिय॑ः।

पुनन्तु विश्वा॑ भूता॒नि॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑ स्वाहा॥ २॥ (यजु०१९.३९)

(पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः॥ २॥

(पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का वर्ण्यविषय का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है॥ २॥

(जातवेदः) हे परमेश्वर! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठाः भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः, श्रेष्ठा ज्ञानिनो, विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपयासुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु॥ १॥

(पुनन्तु) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिए, और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। और आपके दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें॥ १॥

बलिवैश्वदेव कर्म के मन्त्र

ओमग्नये स्वाहा॥ १॥

(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः॥ १॥

(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं॥ १॥

ओं सोमाय स्वाहा॥ २॥

(ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादकः ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः॥ २॥

(ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट, करने और सुख देनेवाला है॥ २॥

ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ ३॥

(ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थो गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः॥ ३॥

(ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान॥ ३॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ४॥

(ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा॥ ४॥

(ओं वि०) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग॥ ४॥

ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥ ५॥

(ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते॥ ५॥

(ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा॥ ५॥

ओं कुह्वै स्वाहा॥ ६॥

(ओं कु०) दर्शेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा॥ ६॥

(ओं कु०) [दर्शेष्टि के निमित्त यह आरम्भ किया गया है। अथवा अमावस्येष्टि में प्रतिपादित चितिशक्ति के लिये है।] अमावास्येष्टि का करना॥ ६॥

ओमनुमत्यै स्वाहा॥ ७॥

(ओम०) पौर्णमास्येष्ट्यर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै॥ ७॥

(ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति॥ ७॥

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ८॥

(ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः॥ ८॥

Pustakam

(ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर॥८॥

ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥९॥

(ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः॥९॥

(ओं स०) सत्यविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण॥९॥

ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥१०॥

(ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः॥१०॥

(ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर। इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना॥१०॥

बलिप्रदान के मन्त्र

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्यात् —

[इन उपर्युक्त मन्त्रों के द्वारा होम करके उसके पश्चात् निम्न मन्त्रों से बलि प्रदान करे—]

ओं सानुगायेन्द्राय नमः॥१॥

(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते॥१॥

(ओं सानु०) [णम धातु से निष्पन्न 'नमः' शब्द से अभिप्राय यह है कि क्रियासहित विचार करने से मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान होता है, यह जानना चाहिये।] सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण॥१॥

सानुगाय यमाय नमः॥२॥

(ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः॥२॥

(ओं सा०) सत्य न्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्य-न्याय के करनेवाले सभासद्॥२॥

ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥३॥

(ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः॥३॥

(ओं सा०) सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन॥३॥

ओं सानुगाय सोमाय नमः॥४॥

(ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः॥४॥

(ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग॥४॥

ओं मरुद्भ्यो नमः॥५॥

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः॥५॥

(ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना॥५॥

ओमद्भ्यो नमः॥६॥

(ओम०) अस्यार्थः 'शन्नो देवी'रित्यत्रोक्तः॥६॥

(ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ 'शन्नो देवी' इस मन्त्र में लिख दिया है॥६॥

ओं वनस्पतिभ्यो नमः॥७॥

(ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरो वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः। यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम्॥७॥

(ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु मेघ आदि सब के पालन के हेतु सब

पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी॥७॥

ओं श्रियै नमः॥८॥

(ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात्। यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च॥८॥

(ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना॥८॥

ओं भद्रकाल्यै नमः॥९॥

(ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः॥९॥

(ओं भ०) जो कल्याण करनेवाला परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना॥९॥

ओं ब्रह्मपतये नमः॥१०॥

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः॥१०॥

(ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना॥१०॥

(ओं ब्रह्म०) वेदशास्त्र का रक्षक परमेश्वर॥[१०]॥

ओं वास्तुपतये नमः॥११॥

(ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिस्तद्वास्त्वाकाशं, तत्पतिरीश्वरः॥११॥

(ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर॥११॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः॥१२॥

Pustakam

(ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः॥१२॥

(ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है॥१२॥

ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥१३॥

(ओं दिवा०) ॥१३॥

(ओं दि०) जो दिन में और ॥१३॥

ओं नक्तंचारिभ्यो नमः॥१४॥

(ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोऽयमारम्भः॥१३-१४॥

(ओं नक्तं०) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना॥१४॥

ओं सर्वात्मभूतये नमः॥१५॥

(ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः॥१५॥

(सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना॥१५॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः नमः॥१६॥

(ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः॥१६॥

(ओं पि०) माता-पिता और आचार्य आदि की प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि—आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना॥१६॥

इति नित्यश्राद्धम्।

Pustakam

[इस प्रकार नित्य श्राद्ध करना चाहिये।]

बलि के भाग

इस के पीछे ये छः भाग करना चाहिये—

शुनां च पतितानां च स्वपचां पापरोगिणाम्।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥ (मनु०३.९२)

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत्।

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चीटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता करना। अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये। यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ।

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः

अतिथियज्ञ

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

[अब पाँचवाँ अतिथियज्ञ कहते हैं—]

अतिथि का लक्षण

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति। अथ के अतिथयः? ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति।

अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा,

Pustakam

सत्यवादी, छल-कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं।

अतिथियज्ञ में प्रमाण

अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहाँ भी लिखते हैं—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥

—(अथर्व०१५.२.११.१)

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च॥ १॥

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त (व्रात्य०) उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करें। और 'अतिथि' वह कहाता है कि जिसके आने-जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो॥ १॥

अतिथिसेवा की विधि

स्वयमेनमभ्युदेत्यं ब्रूयात् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्यं तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ २॥ (अथर्व०१५.२.११.२)

स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तममासने निषादयेत्। ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् — (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम! त्वं कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! जलमेतद् गृहाण (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा

भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तप्पर्यन्ति, तथाऽस्मदीया भवन्तं च [तर्पयन्तु] (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम। (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां कुर्य्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम॥२॥

(स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार कर के, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें, तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहां वास किया था? (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! यह जल लीजिये और (व्रात्य तर्पयन्तु) हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये, कि जिससे हमारे इष्टमित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से सन्तुष्ट रक्खें। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान्! जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये। और (व्रात्य यथा०) जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें॥२॥

इत्यतिथियज्ञः समाप्तः॥

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः॥

(२५) ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण

सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितैर्रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यविद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथोऽत्रोच्यते—

जो-जो ग्रन्थ सृष्टि के आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य लोगों ने 'स्वतःप्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परतःप्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं—

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम्। कुतः? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात् तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च।

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो-जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि सर्वविद्या (युक्त) और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

केवलमात्र वेद स्वतःप्रमाण

तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः

स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधदप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके, सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं, वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं।

परतःप्रमाण ग्रन्थ और उनके प्रमाणत्व की सीमा

ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति।

[जो स्वतःप्रमाणभूत चार वेदरूप मन्त्रभाग हैं, उससे भिन्न वेद के व्याख्यानभूत ब्राह्मणग्रन्थ वेद के अनुकूल होने पर ही प्रमाण हो सकते हैं।] इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद हैं, वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं। और उनसे भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। तथा ग्यारह सौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा भी

वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण।

परतःप्रमाण ग्रन्थ

एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि। तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अथर्ववेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्था, प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परं तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वाद् इदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति। गान्धर्ववेदश्य सामगानविद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृ(देवज्ञ)मयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः।

[इसी प्रकार जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः अङ्ग भी वेद के अनुकूल होने पर ही प्रमाण हैं।] तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक, सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है। (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र-अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनमें राजविद्या सिद्ध होती है। परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त से हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसकी सिद्धि किया चाहें तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता। कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायी-महाभाष्य-धातुपाठोणादिगण-प्रातिपदिकगणपाठाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रभाष्यम्। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति।

[पाणिनिमुनिकृत शिक्षा] इसी प्रकार मन्त्रादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण। तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्यसिद्धान्त आदि, और (छन्दः) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य।

तथा षडुपाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमनेनानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञान-साधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशा-स्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम्। तथैव ईश-केन-कठ-प्रश्न—मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्य-बृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि।

और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है—उनमें से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्मधर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा—वैशेषिक शास्त्र जो कि कणादिमुनिकृत सूत्र और और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित। तीसरा—न्यायशास्त्र जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहित। चौथा—योगशास्त्र जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्यसहित। पाँचवाँ—सांख्यशास्त्र जो कि

कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्यसहित। और छठा—वेदान्तशास्त्र जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायनवृत्त्यादिव्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं।

चौदह विद्याएँ

एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

इसका अभिप्राय है कि जो शाखा शाखान्तर व्याख्यासहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और उपाङ्ग ये सब मिलके चौदह विद्या ग्रन्थ हैं।

मान्य ग्रन्थों का लक्षण

एतासां पठनाद् यथार्थं विदितत्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्। एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति।

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतःप्रमाण करना, सुनना और पढ़ना सबको उचित है। इनसे भिन्नों का नहीं।

अमान्य ग्रन्थों का लक्षण

नैवैतेभ्यो भिन्नाः, पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरण-प्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्या इति।

क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहति हैं, उनको स्वीकार करना योग्य नहीं।

अमान्यग्रन्थ

ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते—रुद्रायामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणन्युपपुराणानि च। प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः। सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणग्रन्थाः। मीमांसाशास्त्रादिविरुद्ध-निर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः। वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासा ग्रन्थाः। योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः। सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः। वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारप-ञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः। ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः।

आगे उनमें से मुख्य-मुख्य मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ। ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण। सूर्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उनसे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि। तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ। हठदीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार, पञ्चदशी, योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः। मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमू-र्त्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्य-विधायकाः सर्वे ग्रन्थाः। तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च। ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष

एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर, गङ्गादि जल, यात्रामाहात्म्यविधायक पुस्तक, तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रचारक वेदविरुद्ध शैव, शाक्त, गाणपत, वैष्णवादि मत के ग्रन्थ। तथा नास्तिक मत के पुस्तक भी और उनके उपदेश, ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

अमान्य ग्रन्थ विषयुक्त अन्न के समान त्याज्य

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्?

उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति, तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति।

कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो-जो सत्य बात हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये?

तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, क्योंकि उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहाँ, विना ज्ञान के उन्नति कैसी? और उन्नति न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं।

तन्त्रग्रन्थों का मिथ्यात्व

अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते—तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति। तेषां मते यत्रैमे श्लोकाः सन्ति—

अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक्-पृथक् दोष भी

दिखलाये जाते हैं। देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे-ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

तन्त्रग्रन्थों के अनुसार मद्य आदि पाँच मकार मोक्षदायक

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।

एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥

(मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सबके साथ इकट्ठे बैठके रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना। इन पांच मकारों के सेवन से सबकी मुक्ति होना॥१॥

तन्त्रग्रन्थों के अनुसार मद्यपान से पुनर्जन्म की अप्राप्ति

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।

पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ २॥

(पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य पात्र धरके, एक कोने से खड़े-खड़े मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहाँ तक कि जब पर्यन्त पीते-पीते बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में गिर न पड़े, तब तक बराबर पीते ही चले जाना। इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ-उठ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त होता है॥२॥

तन्त्रग्रन्थों के अनुसार संभोग के समय सब द्विजाति

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।

निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक्॥ ३॥

(प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्यन्त सब स्त्री पुरुष आते हैं।

फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहाँ उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं, किन्तु कभी-कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उसके लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहाँ तक कि जब तक उन्मत्त न हो जायें तब तक खाना पीना बन्द नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग-अलग वर्णवाले हो गये॥३॥

तन्त्रग्रन्थ मर्यादाविहीन आचरण के समर्थक

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।

लिङ्गं योन्यां संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः॥४॥

मातरमपि न त्यजेत्॥५॥

(मातृयोनिं०) उनके किसी किसी श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी-किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना। तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है॥४-५॥

मर्यादाविहीन आचरण के समर्थक ग्रन्थ अग्राह्य

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत्सुगमं प्रसिद्धं च।

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने के योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

पुराणों का मिथ्यात्व

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्वयः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते।

इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से सम्प्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको नवीन कहना उचित है।

प्रजापति ब्रह्मा और उसकी पुत्री की कथा

'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति।' सा मिथ्यैवास्ति। कुतः? अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

['चार मुख वाले देहधारी प्रजापति ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को मैथुन के लिये पकड़ा।'] नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी—

तत्रैवमेका कथा लिखिता—

[पुराणों में कथा इस प्रकार लिखी है—]

अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहाँ भी लिखते हैं—

ऐतरेय में प्रजापति (सूर्य) और उसकी पुत्री (उषा) की कथा रूपक

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत

तदसावादित्योऽभवत्॥ १॥ (ऐ०ब्रा०३.३३-३४)

सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद् यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। सा च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैरृष्यवच्छीघ्रमभ्यधायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत् सूर्यश्च। कुतः? तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्येण सूर्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित्सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः। यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम्।

(प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहाँ प्रजापति कहते हैं सूर्य को, जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही सन्तान कहाता है। इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उनमें से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य की किरण जाके दीख पड़ती है, वही वीर्यस्थापन के समान है। उन दोनों [पिता और पुत्री] के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है। [जिस प्रकार माता-पिता से सन्तान उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये।]

शतपथ के अनुसार प्रजापति का अभिधेय सविता

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता॥ २॥ (श०ब्रा०१०.२.२.४)

'प्रजापति' और 'सविता' ये शतपथ में सूर्य के नाम हैं॥

निरुक्त में पर्जन्य (पिता) और पृथिवी (पुत्री) की कथा रूपक

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः॥ ३॥ (निरु०४.२१)

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत्। कुतः? पर्जन्याददभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः। अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति। स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति। तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते। अयमपि रूपकालङ्कारः॥ १-३॥

तथा निरुक्त में भी रूपकालङ्कार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है। जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है, तब उसके गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं॥ १-३॥

ऋग्वेद में पिता और पुत्री की कथा रूपकालङ्कार मात्र

अत्र वेदप्रमाणम् —

[इस विषय में वेद का प्रमाण देते हैं—]

इस 'कथा' का मूल ऋग्वेद है कि—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १॥

—(ऋ०१.१६४.३३)

(द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री। द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः॥ १॥

Pustakam

(द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य का प्रकाश है, सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान, और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (जैसे) ऊपर नीचे वस्त्र की दो चाँदनी तान देते हैं, अथवा आमने-सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चाँदनी के समान सूर्य, और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने-सामने खड़ी हों, इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इस योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है॥१॥

रूपकालङ्कार का प्रयोजन

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥२॥

—(ऋ०३.३१.१)

(शासद्वह्नि०) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति। वह्निशब्देन सूर्यो, दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव। स पिता, स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति॥२॥

(शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य०) जल का धारण करनेवाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्रपौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व में लिख आये हैं, इसी प्रकार यहाँ भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं॥२॥

वेद, ब्राह्मणादि कथा पुराणों में मिथ्या कल्पित

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति।

जो यह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद, ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है। तथा ऐसी-ऐसी कथा भी लिखी हैं। उन सबको विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

इन्द्र और अहिल्या की कथा

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है, कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है। सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि —

तथा च—'कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।'

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि—हे इन्द्र! तू हजार भगवाला हो जा। तथा अहल्या को शाप दिया तू पाषाणरूप हो जा। परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायें, और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आ जावेगी।'

तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है। सत्यग्रन्थों में ऐसे नहीं हैं। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। .....गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्ये-वास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमोदयिषति॥१॥ (श०ब्रा०३.३.४.१८)

रेतः सोमः॥२॥ (श०ब्रा०३.३.२.१)

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥३॥ (निरु० १२.११)

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व [यजु० १८४०] **इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते॥४॥** (निरु०२.६)

जार आ भगम्। [ऋ०१०.११.६]

जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता॥५॥

—(निरु०३.१६)

एष एवेन्द्रो य एष तपति॥६॥ (श०ब्रा०.६.४.१८)

इन्द्रः सूर्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री। तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

(इन्द्रागच्छेति०) अर्थात् उनमें इस रीति से है कि—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा का स्त्रीपुरुष के समान रूपकालङ्कार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और

उस रात्रि का जार आदित्य है। अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है। और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृङ्गार को बिगाड़नेवाला है। इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बाँधा है, कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ-साथ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है। और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते हैं कि उसमें दिन लय हो जाता है।

अत्र स सूर्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः? अयं रात्रेर्जरयिता। 'जॄष् वयोहाना'विति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम्॥ १-६॥

तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिये वह उसका 'जार' कहाता है। [यहाँ वह सूर्यरूप इन्द्र, चन्द्रमारूप गोतम की स्त्री रात्रिरूपा अहिल्या का जार कहा जाता है। क्यों? यह रात्रि को जीर्ण अर्थात् रूप को विकृत कर देता है। जार शब्द में √'जॄष् वयोहानौ' धातु का अर्थ अभीष्ट है। रात्रि की आयु का विनाश करने वाला इन्द्र अर्थात् सूर्य ही है, ऐसा मानना चाहिये।]

पुराणोक्त कथा मिथ्या होने से त्याज्य

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि।

इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग दें।

इन्द्र और वृत्रासुर की कथा

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है। इसको भी पुराणवालों ने ऐसा धरके

लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि —

'एवमेवेन्द्रः कश्चिद् देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः। विष्णुरुपायं वर्णितवान् — मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति।'

[इसी प्रकार कोई देहधारी देवराज इन्द्र था, उसका त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर के साथ युद्ध हुआ।] 'त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया। तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि—मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊँगा। तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा।'

ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें। देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

इन्द्र सूर्य तथा वज्र किरण का नाम

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥ १॥

—(ऋ०१.३२.१)

सूर्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति।

'वीर्य्यं वै वज्रः'॥ (श०ब्रा०७.३.१.१९)

स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यास्ता नद्यः? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्॥१॥

(इन्द्रस्य नु०) यहाँ सूर्य का इन्द्र नाम है। उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है। वह अपनी किरणों से 'वृत्र' अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी-बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि 'पर्वत' अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल बहने के लिये होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारके आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है॥१॥

त्वष्टारूप सूर्य तथा वृत्ररूप जल

अह॒न्नहिं॑ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्य्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नव॒: स्यन्द॑मानॄ॒ अञ्ज॑: समु॒द्रमव॑ जग्मुरापः॥२॥

—(ऋ०१.३२.२)

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—(अह०)। (त्वष्टा) सूर्यः (अहन्नहिम्) तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह—(अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत् प्रक्षिपति। येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति। कथम्भूता आपः? (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव?

[वाश्राः] वत्समिच्छवो गाव इव। आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति॥ २॥

(अह०) फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके 'पर्वत' अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है। जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है, वैसी ही वह मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है, और उसके शरीररूप जल सिमट-सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती है॥ १॥

इन्द्र और वृत्र अर्थात् सूर्य और मेघ

अहन्॑ वृ॒त्रं वृ॒त्रत॑रं व्यं॑स॒मिन्द्रो॒ वज्रे॑ण महि॒ता व॒धेन॑।
स्कन्धां॑सीव॒ कुलि॑शेना॒ विवृ॒क्णाहिः॑ शयत उप॒पृक्पृ॑थि॒व्याः॥ ३॥

—(ऋ०१.३२.५)

अपाद॑हस्तो अपृतन्यदिन्द्र॒मास्य॒ वज्र॒मधि॒ सानौ॑ जघान।
वृष्णो॒ वध्रिः॑ प्रति॒मानं॒ बुभू॑षन् पुरु॒त्रा वृ॒त्रो अ॑शय॒द् व्य॑स्तः॥ ४॥

—(ऋ०१.३२.७)

अहरिति मेघनामसु पठितम्॥ (निघ०१.१०)

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः॥ वृत्रं जघ्निवानपववार। तद्वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। (निरु०२.१६-१७)

(इन्द्रः) सूर्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्)

मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात्तथा (अहन्) हतवान्। स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) विविधछेदनसाधनवज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) पृथिव्याः कृतसम्बन्धातनूरिव यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि (अशयत) 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट' इति सामान्यकाले लङ्।

[अपाद०] पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति।

(अह०) जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट-काट कर गिराता है, तब वह वृत्रासुर पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है।

मेघ (वृत्र) की असुर संज्ञा

निघण्टौ (१.१०) 'वृत्र इति मेघस्य नाम'। इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः। त्वष्टा सूर्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः। कुतः? सूर्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति। तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात्। पुनश्च तं सूर्यो हत्वा भूमौ निपातयति। स च भूमिं प्रविशति, नदीर्गच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति। तं वृत्रमिन्द्रः सूर्यो जघ्निवानपववार निवारितवान्। वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः। मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद् वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम्॥ ३-४॥

'निघण्टु' में मेघ का नाम वृत्र है। 'इन्द्रशत्रु०'- वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है, सूर्य का नाम त्वष्टा है, उसका सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहाँ मिलके मेघरूप हो जाता है। [उसी मेघ

की असुर संज्ञा है। फिर उसको सूर्य मार कर भूमि पर गिरा देता है। वह जल भूमि में प्रविष्ट होता है, नदी में बहता हुआ समुद्र में पहुँचता है, फिर वाष्परूप होकर ऊपर पहुँचता है। उस मेघरूप वृत्र को इन्द्र अर्थात् सूर्य मार देता है।] तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि वृत्रो वृणोतेः-वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है॥३-४॥

वृत्ररूप जल से नदियाँ, तालाब, कूप आदि आप्लावित

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥५॥

—(ऋ०१.३२.१०)

(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्, आ समन्ताच्छेते।

(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी-बड़ी नदियाँ उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं, और जितना जल तालाब वा कूप आदि में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है।

इन्द्र (सूर्य) की मेघ पर विजय

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये॥६॥

—(ऋ०१.३२.१३)

(नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत् तन्यतुश्चास्मै सूर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघः, इन्द्रश्च सूर्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति। परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति।

अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति।

(नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है।

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति।

[इस प्रकार के मन्त्र वेद में बहुत से हैं।]

ब्राह्मण के अनुसार मेघ का नाम वृत्रासुर

वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम॥ (श०ब्रा०१.१.३.४)

तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवाऽऽपोऽभि प्रसुस्राव। सर्वत इव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे। ता उपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत् तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति॥ (श०ब्रा०१.१.३.५)

(वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति, तस्माद् वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान हतवान्। स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। स पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति। अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति,

ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्यौषधिसमूहा जायन्ते। यौ वाय्विन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः॥

'वृत्रो ह वा०'-जब जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है। इसी प्रकार बारम्बार मेघ वर्षता रहता है। 'उपर्य्युपर्यति०' अर्थात् सब स्थानों से जल उड़-उड़ कर आकाश में बढ़ता है। वहाँ इकट्ठा होकर फिर-फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से बोलते हैं।

निरुक्त मत में वायु और सूर्य का नाम इन्द्र और इन्हीं का परस्पर युद्ध

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थान इति॥ (निरु०७.५)

वायु और सूर्य का नाम 'इन्द्र' है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य प्रकाशस्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है॥

सत्यग्रन्थों की आलङ्कारिक कथाएँ पुराणों में मिथ्याकल्पित

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्काररयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति।

इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धिवाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख

रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

देवासुर संग्राम

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविद्या देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति। ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। कुतः? तासामप्यलङ्कारयोगात्। तद्यथा—

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है, इसको भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है। जैसे—

'एक दैत्यों की सेना थी कि जिनका शुक्राचार्य पुरोहित था, और वे दक्षिण देश में रहते थे। तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिनका राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि, और पुरोहित बृहस्पति था। उन देवों के विजय कराने के लिये आर्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे। और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे।'

यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना। और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सबको उचित है। तद्यथा—

देव और असुरों का वास्तविक स्वरूप

देवासुराः संयत्ता आसन्॥१॥ (शत०१३.३.४.१)

(देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वाꣳसो हि देवाः॥ (श०ब्रा०३.७.३.१०)

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात् प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वात्

ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः।

[हि निश्चयवाचक है, जो विद्वान् हैं, वे देव और उससे विपरीत जो अविद्वान् हैं, वे असुर हैं। जो देव हैं, वे विद्यावान् होने से प्रकाशवान् हैं। लेकिन जो अविद्वान् हैं, वे अविद्या से युक्त होने से ज्ञानरहित अन्धकार में हैं। इन दोनों का परस्पर युद्ध जैसा होता है, यही दैवासुर संग्राम है।]

(देवासुराः सं०) देव और असुर अपने अपने बाने में सज कर सब दिन युद्ध किया करते हैं। तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी 'देवासुरसंग्राम' रूप जानो। क्योंकि सूर्य की किरण 'देव' संज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल 'असुर' संज्ञक हैं। उनका परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है।

निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवे।

सत्यवादी देव और असत्यवादी मनुष्य

द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। इदहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ (श०ब्रा०१.१.१.४)

स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ (श०ब्रा०१.१.१.५)

मनो ह वै देवा मनुष्यस्य॥ (श०ब्रा०१.१.१.७)

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव। मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुरा, एतयोरपि विरोधो भवति। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति

युद्धमिव प्रवर्त्तते॥१॥

जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं, वे तो 'देव' और जो अविद्वान्, झूँठ बोलने, झूँठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे 'असुर' कहाते हैं। उनका परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उनमें राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उनमें राजा प्राण और अपानादि सेना हैं। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है॥१॥

निरुक्त के अनुसार देव और असुर

असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणानाम। अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। 'सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते'॥२॥ (निरु०३.८)

देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानाम। अस्यत्यनर्थान्। अस्ताश्चास्यामर्थाः, असुरत्वमादिलुप्तम्॥३॥

—(निरु०१०.३४)

प्रकाशाख्यात् सोर्देवान्मनः षष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत। अतस्ते प्रकाशकारकाः। असोरन्धकाराख्यात् पृथिव्यादेरसुरान् पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत। एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवद-नयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम्॥२-३॥

(सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है। और (असो०) अन्धकाररूप

परमाणुओं से पाँच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानी है॥ २-३॥

सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास॥ (श०ब्रा०११.१.६.७) **अथ योऽयमवाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय तम इवास॥** (श०ब्रा०११.१.६.८) **सोऽवेत्। पाप्मानं वा असृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति। तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरम्। यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवन्निति॥** (श०ब्रा०११.१.६.९) **तस्मादेतदृषीणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति॥** (श०ब्रा०११.१.६.१०) **स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय, दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताꣳरात्रिमकुरुत ते अहोरोत्रे॥** (श०ब्रा०११.१.६.११) **स ऐक्षत प्रजापतिः॥ ४॥** (श०ब्रा०११.१.६.७-१२)

(सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात्, सूर्यादीन् प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त। तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते।

[प्रजा की कामना वाले परमेश्वर ने मुख अर्थात् अग्नि के परमाणुओं से सूर्यादि प्रकाशवान् लोकों को उत्पन्न किया, उन प्रकाशरूप देवों ने परमेश्वर की प्रेरणा से प्रकाश आदि व्यवहारों को रचा। यही देवों का देवत्व है, क्योंकि ये ही द्युलोक में, प्रकाश में रमण करते हैं अर्थात् प्रकाशमय रहते हैं।]

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान् प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति। ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन् पदार्थानसृज्यन्त। ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते। तस्मादिदमपि दैवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम्। तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च। एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद् युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि 'देवासुरसंग्रामो'ऽस्तीति विज्ञेयम्। एवमेव दिनं देवो, रात्रिरसुरः। एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते॥४॥

[जो यह अर्वाचीन प्राण है, उससे ईश्वर ने पृथिव्यादि लोक रचे, उसी प्राण से असुरों अर्थात् प्रकाशरहितों का रचा। उन प्राणों ने पृथिवी पर पहुँच कर औषधि आदि पदार्थों को रचा। ये सभी प्रकाशरहित और प्रकाशसहित लोक सप्रयोजन हैं, परन्तु विरोधी स्वभाव के कारण इनमें परस्पर युद्ध जैसा होता हुआ प्रतीत होता है। इस कारण यह भी दैवासुर युद्ध है, ऐसा जानना चाहिये।] तथा पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा दुष्ट लोग 'असुर' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम 'देव' और रात्रि का नाम 'असुर' है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

तथा शुक्लपक्ष का नाम 'देव' और कृष्णपक्ष का नाम 'असुर' है। तथा उत्तरायण की 'देव' संज्ञा और दक्षिणायन की 'असुर' संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां-जहां ऐसे लक्षण घट सकें, वहां-वहां देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना॥४॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः॥ ५॥

—(श०ब्रा०१.७.२.२२)

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते। अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति॥ ५॥

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं, और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं॥ ५॥

देव कनिष्ठ और असुर ज्येष्ठ

द्वया ह प्राजापत्याः, देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः॥ यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ ६॥

—(श०ब्रा०१४.४.१.१, ३)

तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति। वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मयत्वाच्च। तथैव जन्मतो मनुष्या सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति, पुनर्विद्वांसश्च। तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः। एकत्र देवाः सूर्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च। ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम्। एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम्॥ ६॥

इनमें से जो-जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहाते हैं। क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं। तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं। तथा सूर्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं। [एक साथ होने पर सूर्यादि देव ज्येष्ठ माने जाते हैं तथा पृथिव्यादि असुर कनिष्ठ। ये सभी प्रजापति से उत्पन्न होने से प्रजापति के अपत्य के समान हैं, ऐसा जानना चाहिये। इनका भी परस्पर युद्ध जैसा चलता रहता है, यह जानना चाहिये।]॥ ६॥

Pustakam

ऊर्गिति देवा, मायेत्यसुराः॥७॥ (श०ब्रा०१०.५.२.२०)

प्राणा देवाः॥८॥ (श०ब्रा०६.३.१.१५)

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया॥९॥ (श०ब्रा०६.६.२.६)

ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः। ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः। एतयोरपि परस्परं विरोधात् संग्राम इव भवति। इत्यादिप्रकारकं 'दैवासुरं युद्ध'मिति बोध्यम्॥७-८॥

उनमें से जो-जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं, वे 'असुर' और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहाते हैं। [इन दोनों का भी परस्पर विरोध होने से संग्राम जैसा होता है। इस प्रकार के दैवासुर युद्ध होते हैं, यह जानना चाहिये।]॥७-९॥

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्या कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति।

इस सत्यविद्या के प्रकाश करनेवाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन, कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है।

कश्यपगयादि तीर्थकथा

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा—

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं। जैसे देखो कि—

कश्यप

'मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्या, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्द्रवाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथान्यासां सकाशाद् वानरर्च्छवृक्षघासादय उत्पन्नाः।' इत्यादया अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा—

'मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि हुए थे। उनको दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई। अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्द्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं।' इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिये, ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं—

कूर्म ही कश्यप

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तद्यदकरोत् तस्मात्कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति॥ (श०ब्रा०७.५.१.५)

(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा। 'कश्यपो वै कूर्म्म' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव 'कश्यप' इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात् सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। 'कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति' निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्ययाद्धिंसेः सिंहः

कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति 'हयवरट्' इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति। अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति।

(स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से 'कूर्म्म' तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को 'कश्यप' भी कहते हैं। 'कश्यप' यह शब्द 'पश्यक' इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्यय से बनता है। [महाभाष्य में 'हयवरट्' सूत्र आद्यन्ताक्षरविपर्यय करके √हिंस् से सिंह और √कृत् से तर्क शब्द निष्पन्न किये हैं, उसी प्रकार पश्यक से कश्यप सिद्ध होता है। इसलिये भलीभाँति विदित होता है कि समस्त प्रजाएँ काश्यप्य हैं।]

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सबका कल्याण हो।

गयाश्राद्ध

अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को —

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम॥

—(श०ब्रा०१४.८.१५.६-७)

एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते। तद्यथा—(प्राणो०) प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः। तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम्। तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात्। गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह। प्राणानां गयेति संज्ञा प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात्। तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थाद् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम्। गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते।

[इस प्रकार गया में श्राद्ध करना चाहिये। जैसे—] (प्राणो वै बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गयासंज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है, और उसका प्रतिपादन करने वाला गायत्री मन्त्र है जिसको 'गया' कहते हैं। किसलिये कि उसका अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम 'गया' है, उसको प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है। इसलिये ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम 'गया' है।

निघण्टु के मत में गय शब्द गृह, सन्तान और प्रजा का वाचक

गय इत्यपत्यनामसु पठितम्॥ (निघ०२.२)

एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति। अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम्, गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया। मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते। तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्येति। अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते।

तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी 'गया' है। मनुष्यों को इनमें अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सबके उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम 'गयाश्रद्धा' है। तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी 'गयाश्रद्धा' है। तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा,

Pustakam

दुष्टों को दण्ड देना, और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् भी 'गयाश्रद्धा' कहाते हैं। [यहाँ श्रद्धा करने से विद्या की प्राप्ति और मोक्ष नामक विष्णुपद मिलता है, यह निश्चित है।]

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है, उसको कभी न मानना।

गया नामक स्थान में विष्णुपद

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधन-तत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं, तस्य स्थलस्य गयेति च। तद् व्यर्थमेव। कुतः? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रजानां च। अतोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम्। अत्र प्रमाणम् —

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है—'लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहाँ फल्गु नदी के तीर, पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बनाके उसका 'विष्णुपद' नाम रख दिया है। और यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहाँ श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है।' जो लोग आँख के अंधे गाँठ के पूरे उनके जाल में जा फँसते हैं, उनकी गयावाले उलटा उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं। इत्यादि प्रमाद से उनके धन का नाश कराते हैं। वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूंठ ही की गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सबको प्रगट हो जावेगा—

वेद में विष्णुपद का उल्लेख

इ॒दं विष्णु॒र्विच॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्। समू॑ढमस्य पाꣳसु॒रे स्वाहा॑॥ (यजु॰५.१५)

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम्। त्रेधा भावाय

पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा॥ (निरु०१२.१९)

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता। तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम।

और जो वहाँ पाषण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उसका नाम 'विष्णुपद' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसीका नाम विष्णु है।

निरुक्तकार के मत में विष्णु का आशय

अत्राह निरुक्तकारः—

देखो यहाँ निरुक्तकार ने कहा है कि

'पूषेत्यथ यद्विषितो भवति। तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति—इदं विष्णुरित्यृक्॥' (निरु०१२.१८-१९)

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात् सर्वगत ईश्वरोऽस्ति।

(पूषेत्यथ०)—'विष्लृ' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन कर लेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम 'विष्णु' है।

वेद में विष्णु के तीन पग

एतदर्थवाचिकेयमृक् —

[यह इदं विष्णुर्विचक्रमे ऋचा विष्णु अर्थ की वाचक है। इस ऋचा का अर्थ

निम्न है—]

इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान्। 'क्रमु पादविक्षेपे' पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान्। अर्थाद् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम्। यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे। यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम्। एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान्। सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम्। तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम्।

'क्रमु पादविक्षेपे' यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है, इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में से एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ रच के सबको धारण कर रक्खा है।

गयशिर संज्ञक प्राणों में परमेश्वर की प्राप्ति

अयमेवार्थः—(यदिदं किञ्च०)— इत्यनेन यास्काचार्येण वर्णितः। यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान्। (त्रिधा निधत्ते पदम्) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव। तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च

यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते। यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येऽस्तीति। कुतः? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात्। पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते। ये च पांसवः परमाणुसंघाता पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते। अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोध्यम्।

[यह अर्थ ही] (यदिदं किंच०)—इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, त्रिधा=इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे हैं, उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आँख से दीखने के योग्य नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है, और जो उसमें परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को 'विष्णुपद' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं।

तीर्थ

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब नीचे लिखे जाते हैं —

तीर्थ दुःखतारक

तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति। यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि 'तीर्थानि' मतानि। यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञकान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम्। तद्यथा—

देखो 'तीर्थ' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो-जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उनके सुखों के साधन हैं, उनही को 'तीर्थ' कहते हैं।

तीर्थ ही प्रायणीय और उदनीय यज्ञ

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति। तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति॥ (श०ब्रा०१२.२.१.१, ५)

(तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते, तदेव तीर्थमिति वेद्यम्। येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति। तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धिसर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात् तीर्थमिति मन्तव्यम्।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं। क्योंकि कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करनेवाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है।

तीर्थ से भिन्न अहिंसा

अहिꣳसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः॥ (छान्दो०८.१५)

एवमेव (अहिꣳसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन् सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत। परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः। तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनानामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव। ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चौरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव। अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति। तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात् तरन्त्येव। तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः।

तथा (अहिꣳ सन्) सब मनुष्यों को इस 'तीर्थ' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सबके सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी संसार व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) जो-जो व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं, उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो-जो मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त, और परपीड़ा प्रवर्त्तमान हैं, वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्यशास्त्रों का नाम 'तीर्थ' है, कि जिनके पढ़ने-पढ़ाने और उनमें कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं।

आचार्य, माता-पिता और अतिथि : दुःखतारक होने से तीर्थ

समानतीर्थे वासी॥ (अष्टा०४.४.१०७)

सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम्॥

तथैव (समानतीर्थे वासी) इत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्यः, समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति। मातापित्रतिथीनां सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि, दुःखतारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति।

(समानतीर्थे०) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य है उसका, वेदादिशास्त्रों, तथा माता-पिता और अतिथि का भी नाम 'तीर्थ' है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इनका भी तीर्थ नाम है।

तीर्थों में स्नान करने वाले तीन प्रकार के स्नातक

त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति। यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते [स विद्यास्नातकः। यो व्रतं समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्तते] स व्रतस्नातकः॥ इत्यादि (पार०गृ०का०२.५.३२, ३४)

(त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति। तद्यथा—यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति। यस्तु खलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति। यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान्, सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम्।

(त्रयः स्नातका०) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं—एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेद विद्या को पढ़ के, ब्रह्मचर्य को बिना समाप्त करे भी विद्या को पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूप 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है, [विद्यास्नातक है]। दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है, वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। और तीसरा यह है कि नियम से

ब्रह्मचर्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके, समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम 'तीर्थ' में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्र देह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है, [विद्याव्रतस्नातक है।]

परमेश्वर तीर्थ

नम॒स्तीर्थ्या॑य च॒॥ (यजु०१६.४२)

(नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः स तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु। (यजु०१६.४२)

(नमस्तीर्थ्याय०) उक्त तीर्थों से प्राप्त होनेवाला परमेश्वर भी 'तीर्थ' ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है।

सब दुःखों से तारने वाला परमेश्वर परमतीर्थ

ये ती॒र्थानि॑ प्र॒चर॑न्ति सृ॒का॑हस्ता निष॒ङ्गि॑णः॥ (यजु०१६.६१)

ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञानो हस्तौ येषां ते, (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते, सत्योपदेष्टारः। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति' ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः। अतः एवोक्तस्तीर्थ्य इति। सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति। एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि।

जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थं का प्रचार करते हैं, तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर 'रुद्र' कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिनको सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा

निषङ्ग=संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य से उपदेशक भी 'रुद्र' कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको 'परमतीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं॥

तारक न होने जलस्थल तीर्थ नहीं

प्रश्नः—यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति?

प्रश्न—जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थान विशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते?

अत्रोच्यते—नैवं जलं स्थलं च तारकं च कदाचिद्भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च। जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करण-कारकान्वितानि तु नौकादीनि। यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत् तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात्। तस्माद् वेदानुयायिनामार्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितै-रुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविका-धीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति।

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें तारने का सामर्थ्य ही नहीं। और तीर्थ शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उनमें नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते। किसलिए कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें, तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त

जो तीर्थ हैं, उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं। [लेकिन वेदविज्ञान से रहित, उदरपूर्ति में लगे रहने वाले, वेदमार्ग विरोधी, अल्पज्ञ सम्प्रदायी लोगों ने अपनी जीविका के लिये स्वरचित ग्रन्थों में काशी, प्रयाग आदि को तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध कर दिया है।]

वेद में वर्णित गङ्गा, यमुना आदि दुःखतारक न होने से तीर्थ नहीं

ननु—'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति' (ऋ०१०.७१.५) गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते?

प्रश्न—(इमं मे गङ्गे०) यह मन्त्र आदि नदियों को तीर्थ विधान करने वाला है, फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति। ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति। ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत्तासां मान्यं करोमि। न च पापनाशकत्वं दुःखात् तारकत्वं च। कुतः? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात्। इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति।

उत्तर—हम लोग उनको नदी मानते हैं, और उनके जल में जो गुण हैं, उनको भी मानते हैं। परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थें में ही है।

इडा, पिङ्गला आदि नाड़ियों की गङ्गा संज्ञा

अन्यच्च, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति। तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणसिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात्।

तथा इस मन्त्र में 'गङ्गा' आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के नाम हैं। उनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से

मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिए उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है।

वेद में वर्णित सित, असित और सङ्गथे का आशय प्रयाग तीर्थ नहीं

एवमेव—'सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०' एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। 'सङ्गथे' इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति।

[इसी प्रकार 'सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०' इस परिशिष्ट वचन से कुछ लोग गङ्गा-यमुना का ग्रहण करते हैं। 'सङ्गथे' इस पद से गङ्गा-यमुना के सङ्गमस्थल की प्रयागतीर्थ संज्ञा करते हैं।]

तन्न सङ्गच्छते—कुतः? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः। अत्रापि 'सित'शब्देनेडायाः, 'असित'शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः।

[वह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उस स्थान पर स्नान करके कोई भी द्युलोक या परमेश्वर या सूर्यलोक को नहीं प्राप्त होते, बल्कि फिर वे अपने घर आ जाते हैं। यहाँ पर भी 'सित' शब्द से 'इडा' और 'असित' शब्द से 'पिङ्ला' का ग्रहण होता है।] (सितासिते०)—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहाँ मिली हैं, उसको 'सुषुम्णा' कहते हैं। उसमें योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। [इसलिये इन दोनों (इडा-पिङ्गला) का यहाँ ग्रहण होता है, न कि उन दोनों (गङ्गा-यमुना) का।]

अत्र प्रमाणम् —

इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—

सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्॥ (निरु०९.२६)

सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः। तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्यादिपृथिव्यादिपदार्थयो-र्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव।

'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' [उन प्रकाश और अन्धकार अर्थात् सूर्य और पृथिव्यादि पदार्थों का ईश्वर की सामर्थ्य से समागम होता है, उसमें स्नान किये हुए अर्थात् उस विज्ञान को जानने वाले पूर्वोक्त द्युलोक को प्राप्त होते ही हैं।]

इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

मूर्तिपूजा

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवृत्यते। तद्यथा—

अब इसके आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उनमें पत्थर आदि की मूर्त्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, काष्ठादि माला, तिलक, इत्यादि का विधान करके उनको अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये। क्योंकि, वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उनका निषेध ही किया है। जैसे—

Pustakam

परमेश्वर की प्रतिमा नहीं

न तस्य॑ प्रति॒माऽअस्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑।

हि॒रण्य॒ग॒र्भऽइत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽइत्ये॒षः॥ १॥

—(यजु॰३२.३)

पूर्णस्य पुरुषजातस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (नाम) महद्यशः यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नाम स्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः) यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्, (मा मा॰) यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्या, (यस्मान्न॰) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित् सकाशात् कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति, (न तस्य॰) नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति। परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकार-त्वात् सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च॥ १॥

(न तस्य)। पूर्ण-जो किसी प्रकार से कम नहीं, अज-जो जन्म नहीं लेता, और निराकार-जिसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिसका 'नामस्मरण' कहाता है। (हिरण्यगर्भ॰) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—(मा मा हिꣳसी॰) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिए।

कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये, तो उत्तर यह है कि—(यस्मान्न॰) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य॰) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात्

नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिसको तसवीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सबमें व्यापक है। इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये॥१॥

इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजानिषेधः।

[इस प्रमाण से मूर्तिपूजा का निषेध हो जाता है।]

मरणधर्मा उपास्य नहीं

कदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है? तो यह बात समझना चाहिये कि—जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा, और फिर वह वृद्ध होकर मर जायेगा, तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्त्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध होगया।

परमेश्वर का स्वरूप कायारहित

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥

—(यजु०४०.८)

यः (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) सर्वसाक्षी, (परिभूः) सर्वोपरि विराजमानः, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपः परमेश्वरः (शाश्वतीभ्यः) नित्याभ्यः, (समाभ्यः) प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्) विहितवानस्ति, (स पर्यगात्) सर्वव्यापकोऽस्ति। यत् (शुक्रम्) वीर्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम् (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात् पृथग्भूतम्। यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम्॥ २॥

तथा—(स पर्यगाच्छु०)। जो परमेश्वर (कविः) सबका जाननेवाला, (मनीषी)

सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सबके ऊपर विराजमान, और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायम्) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणम्) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धम्) सब दोषों से अलग, और (अपापविद्धम्) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सबको मानना चाहिये॥२॥

कायारहित परमेश्वर की पूजा मूर्ति बना के करना अयुक्तिसंगत

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते। तस्मादवश्यं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति।

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया, इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्त्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।

वेद में प्रतिमा शब्द काल का वाचक

प्रश्नः—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा?

[**प्रश्न**—वेद में प्रतिमा शब्द है या नहीं?]

उत्तरम् —अस्ति।

[**उत्तर**—है।]

प्रश्नः—पुनः किमर्थो निषेधः।

[**प्रश्न**—फिर किसलिये निषेध करते हो?]

उत्तरम् —नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते। किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते।

[उत्तर-लेकिन वेद में प्रतिमा अर्थ में मूर्ति का ग्रहण नहीं होता। प्रत्युत परिमाण

के अर्थ ग्रहण होता है।]

अत्र प्रमाणानि—

[इस विषय में प्रमाण हैं—]

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥ (अथर्व०३.१०.३)

(संवत्सर०) विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, वयमपि त्वां तामेवोपास्महे। अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति। (सा न०) यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां (संसृज) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति॥ ३॥

(संवत्सरस्य) विद्वान् लोग संवत्सर की, जिस (प्रतिमाम्०) क्षण आदि काल के विभाग करनेवाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी 'प्रतिमा' संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोगों सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक सम्पूर्ण आयुयुक्त संतानों को उत्पन्न करें॥ ३॥

शतपथ ब्राह्मण में प्रतिमा शब्द वर्ष का वाचक

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहुर्त्ताः॥ ४॥ (श०ब्रा०१०.३.२.२०)

(मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौ शतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्त्ताः सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः॥ ४॥

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि—(मुहूर्त्ता०) एक

संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी 'प्रतिमा' शब्द के अर्थ में समझने चाहिये। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है॥४॥

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही उपास्य

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥५॥ (तव०उ० १.४)

(यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, (तदेव०) तद् ब्रह्म हे मनुष्य! त्वं विद्धि। यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति। किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति॥५॥

(यद्वाचा०) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है। हे मनुष्यो! तुम लोग उसीको परमेश्वर जानो, और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उसके रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसीकी उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषद् कारक ऋषियों का मत है॥५॥

इत्यादिमन्त्रपञ्चकं मूर्त्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम्।

[उपर्युक्त पाँच मन्त्रों से मूर्ति आदि का निषेध होता है।]

मनुस्मृति में प्रतिमा, दैवत, देवतायतन आदि शब्दों का प्रयोग

प्रश्नः—किञ्च भोः! मनुस्मृतौ—'प्रतिमानां च भेदकः'; 'दैवतान्यभिगच्छेत्तु'; 'देवताऽभ्यर्चनं चैव; 'देवतानां च कृत्स्नम्'; 'देवतायतनानि च'; 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः'; 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ'; 'देवतागारभेदकान्'—उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति?

प्रश्न—क्योंजी! मनुस्मृति में जो 'प्रतिमानां०' इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि कोई प्रतिमा को तोड़े उसको राजा दण्ड देवे। तथा देवताओं

के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना, और उनकी परिक्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?

मनुस्मृति में प्रतिमा शब्द परिमाण अर्थ में

उत्तरम् — अत्र 'प्रतिमा' शब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते।

[**उत्तर—**यहाँ [मनुस्मृति में] 'प्रतिमा' शब्द से रत्ती, मासा, सेर आदि तोलने के साधन ग्रहण किये जाते हैं।]

तद्यथा—

[जैसे—]

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्॥ (मनु०८.४०३)

इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात् तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम्। अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणो दण्डो देय इत्युक्तः।

उत्तर—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ, और आँख खोल कर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके (तुलामानं०) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि 'तुलामान' अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः छः महीने में एक बार किया करें, कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सकें। और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।

मनुस्मृति में दैवत और देवतायतन शब्द विद्वानों का निवास

विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते। देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवतायतनानि च' सन्तीति बोध्यम्। विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति। नैवेतरेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः। किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्येति।

फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम 'देव' कहा है। अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते और निवास करते हैं, उन स्थानों को 'दैवत' कहते हैं। वहाँ जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सबको अवश्य करनी चाहिये। (देवतानां च कुत्सनम्) उन विद्वानों की निन्दा, उनका अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये। किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उनके समीप जाकर अच्छी-अच्छी बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिणा०) उनको मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना। क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बाँधा गया है।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः। ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति। एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः।

ऐसे अन्यत्र भी जहाँ कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उनके स्थानों का वर्णन हो, इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहाँ समझ लेना चाहिये। यहाँ सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। ऐसा ही सत्यशास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझकर मन, कर्म और वचन से त्यागकर देना अवश्य उचित है।

ग्रहपीड़ा भ्रम और उसका समाधान

एवमेव सूर्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा—तत्राकृष्णेन रजसेति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः। इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति।

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्यादि ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ानिवारण करना यह अर्थ नहीं है। 'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा 'इमं देवा०' इसका अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है।

सूर्य और विद्युत् रूप में अग्नि रक्षक

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्याऽअ॒यम्। अ॒पाꣳरेता॑ꣳसि जिन्वति॥१॥ (यजु॰३.१२)

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति। 'व्यत्ययो बहुलमिति' सूत्रेण भकारस्थाने तकारः। (अपाꣳरेताꣳसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति॥१॥

(अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है, वह (दिवः) प्रकाशवाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करनेवाला तथा (मूर्धा) सब पर विराजमान, और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से 'ककुभ्'

शब्द के भकार को तकारादेश हो गया है। (अपाछ्रेताछ्सि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करनेवाला है॥१॥

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳ सृजेथामयं च।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

—(यजु०१५.५४)

(उद्बुध्यास्वाग्ने) हे अग्ने परमेश्वर! अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव। (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु। (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन्! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत् समुत्पादयेत्, त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम्। (अस्मिन् सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च, (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति। व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः॥२॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये। (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके, विद्यारूप सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये कि जिससे (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन्! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्धि कीजिये। (अस्मिन् सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) आपकी कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें, कि जिससे हम लोग

विद्यायुक्त होते रहें। 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से 'संसृजेथाम्' 'सीदत' इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ॥२॥

बृहस्पति

बृहꣳस्पतेऽअति यदर्योऽअर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद्दीदयच्छवसऽऋतप्रजात तदस्मासु द्रविꣳणं धेहि चित्रम्॥३॥

—(यजु०२६.३)

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्, [अर्यः] स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रम्) यद्धनमद्भुतम् (तदस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते॥३॥

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर! आप, (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रम्) अद्भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये। कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में (ऋतुमत्) जिससे बहुत से यज्ञ किये जायें, (द्युमत्) जिससे सत्यव्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करनेवाला, और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करनेवाला, तथा (यदर्यो०) जिसको धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है, उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है॥३॥

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेनं सत्यमिंन्द्रियं विपानंꣳशुक्रमन्धंस इन्द्रंस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधुं॥४॥ (यजु॰१९.७५)

(क्षत्रम्) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह, (पयः) अमृतात्मकं, (सोमम्) सोमाद्योषधिसम्पादितं, (रसम्) बुद्ध्यानन्दशौर्यधैर्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं, (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यम्) धर्मराजव्यवहारं च, (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानम्) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रम्) आशुसुखकरं, (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं, (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, (अमृतम्) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया, (इन्द्रियम्) विज्ञानयुक्तं, मनः प्राप्य (इदम्) सर्वव्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति। (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात्। (अन्नात् परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोज्यात् पदार्थात् परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्यः। यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत् तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम्॥४॥

(क्षत्रम्) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमम्) सोमलता आदि ओषधियों का सार, तथा (रसम्) जो बुद्धि, आनन्द शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ानेवाला है, उनको (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के, (सत्यम्) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानम्) यथावत् प्रजा

का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा, (अन्धसः) शुद्ध अन्नरूप की इच्छायुक्त, (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतम्) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीतलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदम्) इन सबसे परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, (इन्द्रियम्) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन किया करो। (अन्नात् परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो॥४॥

शन्नो देवी मन्त्र आपः का अभिधायक

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयो॒र॒भिस्र॑वन्तु नः॥५॥

—(यजु०३६.१२)

‘आप्लृ व्याप्तौ’ अस्माद्धातोरप्छब्दः सिध्यति, स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। ‘दिवु’ क्रीडाद्यर्थः। (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः, सर्वानन्दप्रदः, सर्वव्यापक ईश्वरः (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु।

(शन्नो देवी०)। ‘आप्लृ व्याप्तौ’ इस धातु से ‘अप्’ शब्द सिद्ध होता है। सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा जिस ‘दिवु’ धातु के क्रीडा आदि अर्थ हैं, उससे ‘देवी’ शब्द सिद्ध होता है। (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सबका प्रकाश और सबका आनन्द देनेवाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको सुखी होने के लिये, (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की

(अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे।

आपः के परमात्मवाचक होने में प्रमाण

अत्र प्रमाणम् —

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—

यत्रं लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जनां विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ५॥ (अथर्व०१०.४.२२.१०)

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते। तद्यथा—

[इस वेदमन्त्र के प्रमाण से 'आपः' शब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है। जैसे—]

(आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति। (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति। (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति, विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु॥ ५॥

(आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आप' परमात्मा का नाम है।

प्रश्न—(यत्र लोकांश्च कोशांश्च) सुनोजी! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित, (असच्च यत्र सच्च) तथा जिसमें अनित्य कार्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों को धारण करनेवाला कौन पदार्थ है?

उत्तर—(अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है। ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को

अपने ही अन्तःकरण में खोजो॥५॥

कया॑ नश्चि॒त्रऽआ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता ॥ ६॥ (यजु॰२७.३९)

(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (तया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः (नः) अस्माकं, (सखा) मित्रः, (आ भुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति॥ ६॥

(कया) जो किस उपासना रीति, (शचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद् सहित, (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्त्तमान, (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित, (चित्रः) अद्भुतस्वरूप, (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो, (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उषद्भिः समुजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर! आपकी आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं। और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार से प्रकाशित होते रहो॥ ६॥

केतु

के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्याऽअपे॒शसे॑। समु॒षद्भि॑रजायथाः॥ ७॥

—(यजु॰२९.३७)

हे (मर्या) मनुष्याः! (उषद्भिः) परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव, (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय, (केतुम्) प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय, (पेशः) चक्रवर्त्तिरा-

ज्यादिसुखसम्पादकं धनं च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्॥७॥

हे विज्ञानस्वरूप! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन्! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये। तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ (पेशः) विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिससे (मर्याः) जो आपके उपासक लोग हैं, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों॥७॥

(इति ग्रन्थाप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

Pustakam

(२६) अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादि शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्यहोस्विन्नेति?

प्रश्न—वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं?

सर्वेषामस्ति। वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च। यद्यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्विस्ति, तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः।

उत्तर—सबका है। क्योंकि, जो ईश्वर की सृष्टि है, उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो सो सबके उपकारार्थ हैं।

वेदादि शास्त्र सभी वर्णों के लिये

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है। और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है।

उत्तर—यह बात सब मिथ्या है। इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं। वहाँ यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। उनके पढ़ने-पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है।

वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने का अधिकार सभी स्त्री-पुरुषों को

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री-पुरुषों का वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने का अधिकार है?

उत्तर—सब को है। देखो! इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं—

Pustakam

अत्र प्रमाणम् —

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः। ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या॒भ्या॑ꣳशू॒द्राय॒ चार्य्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय च। प्रि॒यो दे॒वाना॑ं दक्षि॑णायै दा॒तुरि॒ह भू॑यासम॒यं मे॒ काम॒ः सम॑ृध्यता॒मुप॑ मा॒दो न॑मतु॥१॥ (यजु॰२६.२)

अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः, सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां, (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयीं वागुपदेष्टव्येति।

(यथेमां वाचं कल्याणीं०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सबकी कल्याण करने वाली है। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों को लिये मैं वेद का उपदेश करता हूँ, वैसे ही सदा तुम भी किया करो।

वेद को पढ़ने का अधिकार मनुष्यमात्र को

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् — जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात्?

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहाँ कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहाँ द्विजों का ही ग्रहण किया है।

नैवं शक्यम् —उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात्। तद्यथा—कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोऽस्ती-त्याकांक्षायामिदमुच्यते—

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है—

(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्याय) वैश्याय, (शूद्राय) (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, (स्वाय) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च, सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति। (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथायं (मे) मम कामः समृध्यते, तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम्। यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति, (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति।

(ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है, वैसा ही क्षत्रिय, अर्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है। क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक है। और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा, तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्) जैसे दानी या शीलमान् पुरुष को प्रिय होता है, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुना कर सबको प्रिय हो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में

यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादो नमतु) जैसे मुझ में अनन्त विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम्। यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या। नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति। कुतः? यथा मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति। अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति। कुतः? 'बृहस्पते अतियदर्य' इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्॥१॥

[मैं तुम लोगों को यह आशीर्वाद देता हूँ, यह निश्चित जानना चाहिये। जिस प्रकार मैंने वेदविद्या सबके लिये प्रकाशित की है, उसी प्रकार तुम्हें भी सबके लिये उसका प्रकाश करना चाहिये। इस विषय में किसी प्रकार भेदभाव नहीं करना चाहिये। क्योंक? इस प्रकार भेदभावरहित वेदविद्या का प्रचार करने से मुझे प्रसन्नता होती है, इससे विपरीत आचरण करने से नहीं।] यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति यदर्य०' ने भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सबके लिये वेदाधिकार है॥१॥

वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार : गुण और कर्म

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः—

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है। इसमें मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि—

गुण-कर्म से च्युत होने पर वर्णपरिवर्तन

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात् तथैव च॥१॥ (मनु०१०.६५)

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणै-र्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव॥१॥

(शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण रहता है, तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो, तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

वर्णनिर्धारण पच्चीसवें वर्ष

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।

धर्मसूत्र से भी वर्णपरिवर्तन की पुष्टि

एवमेवापस्तम्बसूत्रेऽप्यस्ति—

तथा आपस्तम्बसूत्र में ऐसा लिखा है—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥१॥

—(आप०ध०२.५.११.१०)

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात् प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युच्यते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति॥ १॥

(धर्मचर्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस-जिस वर्ण को जिन-जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं॥ १॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ २॥

—(आप०ध०२.५.११.११)

एवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति। एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति॥ २॥

(अधर्मचर्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व पूर्व वर्ण नीचे-नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। [जातिपरिवृत्तौ का अर्थ पूर्ववत् अर्थात् धर्माचरण ही उत्तम वर्ण के अधिकार में कारण है। इसी प्रकार अधर्माचरण कनिष्ठ वर्ण के अधिकार की प्राप्ति में कारण है।]

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है॥ २॥

यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः—शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति।

[जहाँ-जहाँ शूद्र को पढ़ाने और सुनाने का अधिकार नहीं है, यह कहा गया है,

वहाँ उसका यह अभिप्राय है कि बुद्धिरहित, विद्या के पढ़ने और उसको धारण करने में असमर्थ होने के कारण शूद्र को वेदादि शास्त्र को पढ़ाना और सुनाना निष्फल हो जाने के कारण व्यर्थ है।]

(इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः)

Pustakam

(२७) अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

उच्चारणशिक्षा

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्यम्। अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्। एवमेव सर्वत्र।

पठनपाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान-प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसको भी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इसका सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है।

महाभाष्यकार के मत में अशुद्ध उच्चारण : अपराध

अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ १॥

—(महा०भा०१.१.१)

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्याच्चेत्स

तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह। तद्यथा—

स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसीका समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादिग्रन्थों में स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह (दुष्टः शब्दः) दुःख करनेवाला और झूठ समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है। और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि 'तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।'

अशुद्ध उच्चारण से अर्थ की हानि

सकलम्, शकलम्, सकृत्, शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची। शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची। शकृदिति मलार्थवाची चात्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद् विपरीतफलो जातः। तद्यथा—

जैसे 'सकल' और 'शकल' में देख लो। अर्थात् 'सकल' शब्द सम्पूर्ण का

बोधक, और जो उसमें तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और 'शकृत्' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'प्रथम क्रिया' और उसीको तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है।

स्वर के अशुद्ध उच्चारण का परिणाम

इन्द्रः सूर्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्यस्य ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः। यस्य च मेघस्य, तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति। अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते। अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति॥ १॥

जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहाँ इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्यपदार्थ का बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है। जो इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता चाहे, वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे, और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये॥ १॥

अर्थरहित पाठ करने वाले से अर्थसहित पाठ करने वाला उत्तम

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव। अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः। यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः।

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये। क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों के अर्थ सहित यथावत् पढ़ के शुभगुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सबसे उत्तम होता है।

अर्थज्ञान का महत्त्व

अत्र प्रमाणानि—

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं। जैसे—

ऋ॒चो अ॒क्षरे॑ पर॒मे व्यो॑म॒न् यस्मि॑न् दे॒वा अधि॒ विश्वे॑ निषे॒दुः।
यस्तन्न वेद॒ किमृ॒चा क॑रिष्यति॒ य इत्तद्वि॒दुस्त इ॒मे समा॑सते॥ २॥

—(ऋ०१.१६४.३९)

अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति।

[अभिप्राय—यहाँ मन्त्रों में अर्थज्ञानरहित अध्ययन का निषेध किया गया है।]

(ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति। ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्। तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह—यस्मिन् विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो मनुष्याः, इन्द्रियाणि च,

सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम्। (यस्तं न वेद०) यः खलु तं न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थाया-मीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति। नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति। तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम्॥ २॥

(ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०) यहाँ इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है।

प्रश्न—जिसका विनाश कभी नहीं होता, और जो सब से श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सबमें रहनेवाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्मा क्या वस्तु है?

उत्तर—(यस्मिन्देवा०) जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियाँ, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं, वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उसको प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। इसलिये जैसा वेद विषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है, वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें॥ २॥

अर्थ को न जानने से हानि और जानने का फल

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ ३॥

—(निरु०१.१८)

(स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च। यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते। योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम्। (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव, (सकलम्) सम्पूर्णं, (भद्रम्) भजनीयं सुखं, (अश्नुते) प्राप्नोति। पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति। तस्माद् वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम्॥ ३॥

(स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल-फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़ानेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञः०) और जो अर्थ को जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म-मरणरूप दुःख को त्याग करके, सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि, जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह (नाकममेति) सर्वदुःखरहित रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये॥३॥

अर्थज्ञानरहित अध्ययन ज्ञान के प्रकाश से रहित

यद् गृ॑हीतम॑विज्ञा॒तं निगदे॑नैव॒ शब्द्य॑ते।
अनग्ना॒विव॑ शुष्के॒धो न॒ तज्ज्व॑लति॒ कर्हि॑चित्॥ ४॥ (निरु०१.१८)

(यद् गृहीतमविज्ञातम्) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते, किन्तु (निगदेनैव) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते। कस्मिन् किमिव? (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं साम्प्रतं प्रज्वलनमिन्धनमिव। यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति॥ ४॥

(यद् गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता॥ ४॥

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाला विद्वान्

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ५॥

—(ऋ०१०.७१.४)

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति। (उत त्वः शृण्वन्नपि शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति। यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम्। (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वम्) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति। कस्मै का किं कुर्वतीव? (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती, पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः॥ ५॥

Pustakam

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन के यथावत् जान ले, वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जानने वाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है॥५॥

विद्वान् और अविद्वान् का लक्षण

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ ५॥

—(ऋ०म०१०.७१.५)

(सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वम्) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतम्) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं, (आहुः) वदन्ति। (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति। तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते।

अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह—(अधेन्वा चरति) यतो यो ह्यविद्वान् (ह्यपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलाम्) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं (शुश्रुवान्) श्रुतवान्, तथाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया (मायया)

कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति॥ ६॥

(उत त्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष हैं, उनको अच्छी प्रकार सुख दे, कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा मिलता रहे। विद्वान् नाम उसका है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसीको 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैनं हि०) उसको कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता। क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य प्रकाशित हो रहा है, उसको दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उसको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है॥ ६॥

वेदार्थ के लिये अध्ययन

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टु-निरुक्त-छन्दो-ज्योतिषां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसा-वैशेषिक-न्याय-योग-सांख्य-वेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेय-शतपथ-साम-गोपथ-ब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति।

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और

वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य वेद व्याख्यान किये हों, उनको देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

सत्यविज्ञान का मूल होने से वेद का अध्ययन आवश्यक

कुतः? 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति।' यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः? सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः? यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

क्योंकि (नावेदवित्) वेदों को न जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो-जो जहाँ-जहाँ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा, वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रखा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है। और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्या के मूल वेदों विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ना चाहिये।

(इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः)

(२८) अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

वेदभाष्य

प्रश्नः—किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते। यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति?

प्रश्न—क्योंजी! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन। जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है। क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं। और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई न मानेगा। क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है?

दयानन्दकृत वेदभाष्य परम्परा से अनुमोदित

उत्तरम् —पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्य-वात्स्यायन-जैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचिता-न्यासन्, तथा यानि पाणिनि-पतञ्जलि-यास्कादि-महर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्ग-ख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदा-ख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां सङ्ग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन [याज्ञवल्क्य, वात्स्यायन, जैमिनि, पाणिनि, पतञ्जलि, यास्कादि] आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-

जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है। क्योंकि जो-जो प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारह सौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात प्रमाण वा अप्रमाण अपनी रीति से नहीं लिखी जाती।

दयानन्दकृत वेदभाष्य का लाभ

प्रश्नः—किमनेन फलं भविष्यतीति?

[**प्रश्न**—इससे क्या लाभ होगा?]

उत्तरम् —यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च।

और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं। [इस वेदव्याख्यान से उनके हृदय में यथावत् वेदार्थ का प्रकाश होगा और टीकाओं के दोष सामने आ जाने से उन वेदव्याख्यानों का त्याग होगा।]

सायणादिकृत वेदभाष्यों में दोषदर्शन

परन्त्ववकाशाभावात् तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते।

[स्थान का अभाव होने से उन वेदव्याख्यानों में स्थालीपुलकन्याय (एक चावल का परीक्षण करके स्थाली के अन्य चावलों के विषय में जान लेना, इस न्याय) से दोष दिखाया जा रहा है।

सायण मत में वेद क्रियाकाण्डपरक

तद्यथा—यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्ति' इत्युक्तम् —

जैसे देखो—सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड ही प्रतिपादन करते हैं'।

वेदसर्वविद्यामय

तदन्यथास्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्।

यह उनकी बात मिथ्या है। [क्योंकि वेदसर्वविद्यामय हैं।] इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं, सो देख लेना। [इतना कहने मात्र से सायणाचार्य के कथन की व्यर्थता स्पष्टता हो जाती है।]

'इन्द्रं मित्रं०' मन्त्र में अग्नि विशेष्य, परन्तु सायण के मत में इन्द्र विशेष्य

(इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा—तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः। तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्।

ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०) सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है। क्योंकि उनने इस मन्त्र में विशेष्य-विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर, इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं। यह उनको बड़ा भ्रम होगया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उसके ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक बार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं, वहाँ-वहाँ विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों बार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध है।

निरुक्तकार के मत में भी अग्नि विशेष्य

निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा—

इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—

इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदतीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०।। (निरु०७.१८)

स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्।

(इमेमावाग्निं०)। यहाँ अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद्वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

'इन्द्रं मित्रम्' मन्त्र में मित्रादि देव परमेश्वर के वाचक नहीं

तथा च—'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थित'मित्युक्तम्।

ऐसे ही सायणाचार्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तथा उनने—'सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है, अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है, उसी रूप से ईश्वर स्थित है।'

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति तद्यथा—सर्वैर्नामभिः परमेश्वर हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधकम् आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव।

यह सायणाचार्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं, उसको किसलिये ग्रहण किया है?

कोऽपि ब्रूयात् — सायाणाचार्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा—'अज एकपात्,' 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' इत्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात् तत्कथनमसदस्ति।

और कदाचित् कोई कहे कि—जो सायणाचार्य ने वहाँ इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो, तो उससे कुछ विरोध नहीं आ सकता।

इसका उत्तर यह है कि—जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म से लेकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीरसम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य का कथन सत्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार सायणाचार्य ने जिस-जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

Pustakam

एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

[इसी प्रकार सायणाचार्यकृत भाष्य में बहुत सारे दोष हैं। आगे जहाँ-जहाँ जिस-जिस मन्त्र का व्याख्यान किया जायेगा, वहाँ-वहाँ उन-उन दोषों को प्रकाशित कर दिया जायेगा।]

महीधर

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवरणं कृतं, तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते—

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है। उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उनके कुछ दोष यहाँ भी दिखलाते हैं—

महीधर : ‘ ग॒णानां॑ त्वा’ में अश्वशिश्न को योनि में डालने का विधान

ग॒णानां॑ त्वा ग॒णप॑तिꣳहवामहे प्रि॒याणां॑ त्वा प्रि॒यप॑तिꣳ हवामहे नि॒धी॒नां॑ त्वा॑ नि॒धि॒प॑तिꣳ हवामहे वसो मम। आहम॑जानि गर्भ॒धमा त्वम॑जासि गर्भ॒धम्॥ १॥ (यजु०२३.१९)

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तम् —‘अस्मिन् मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य क्षिपामि। त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥ १॥’

(गणानां त्वा०) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि—गणपति शब्द में घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि ‘सब ऋत्विजों के सामने यजमान स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि हे अश्व! जिससे गर्भधारण होता

है, ऐसा जो तेरा वीर्य है, उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूँ तथा तू उस वीर्य को मुझ में स्थापन करनेवाला है’॥१॥

‘गणानां त्वा’ मन्त्र का सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

[अब सत्य अर्थ कहते हैं—]

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः। तथैव सर्वेषां प्रियाणा-मिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत्। एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत्। वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर! त्वं सर्वान् कार्याख्यान् भूगोलान् स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम्। (आ त्वमजासि) हे भगवन्! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि। पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे। नैवातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोऽस्तीति।

(गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करनेहारा है, (त्वा) उसको (हवामहे) हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है। इस कारण से उसको ‘वसु’ कहते हैं। हे वसु परमेश्वर! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आपका नाम ‘गर्भध’ है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूँ। (आ त्व०) जैसे आप सब प्रकार से सबको जानते हैं, वैसे ही मुझको भी सब प्रकार

से ज्ञानयुक्त कीजिए। (गर्भधम्) दूसरी वेर 'गर्भध' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो-जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उनमें भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है॥१॥

ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द का अर्थ

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति॥

—(ऐ०ब्रा०१.२१)

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—(ब्राह्मणस्पत्यं०) अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः। ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात्। तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति। आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति। यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च, प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथस्तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति।

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है। जो कि—'प्रथ' अर्थात् विस्तृत, सबमें व्याप्त, और 'सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है।

शतपथ के अनुसार जमदग्नि (परमेश्वर) का अर्थ अश्वमेध

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः॥ (श.ब्रा.१३.२.२.१४)

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन, 'जमदग्निसंज्ञो'ऽस्ति। अत्र प्रमाणम् —

[निश्चय से प्रजापति का अर्थ परमेश्वर ही है, वह जमदग्नि संज्ञक है। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण है—]

निरुक्त के अनुसार प्रजापति (परमेश्वर) की जमदग्नि संज्ञा

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति॥ (निरु०७.२४)

इमे सूर्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति। तैः सूर्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति। यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः।

[ये सूर्यादि प्रकाशक पदार्थ उस प्रजापति की सामर्थ्य से प्रज्वलित होते हैं। उन सूर्य आदि कार्यों से और उनके नियमों से कारणरूप ईश्वर पूजित होता है।] ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी—राज्यपालन का नाम 'अश्वमेध', राजा का नाम 'अश्व' और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न 'पशु' रक्खा है। राज्य की शोभा धन है, और ज्योति का नाम हिरण्य है।

राजा की अपेक्षा प्रजा निर्बल

क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम्॥ (श.ब्रा.१३.२.२.१५-१७)

अथापरः—क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि। यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति। तस्य राज्यस्य, यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति। यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते।

[दूसरा अर्थ—क्षत्र (क्षत्रिय) अश्व का तथा विट् (प्रजा) पशु का वाचक है। जिस प्रकार अश्व की अपेक्षा से इतर अजा आदि पशु न्यून बल और वेग वाले होते हैं, उसी प्रकार राजा की सभा के समीप प्रजा निर्बल होती है। उस राज्य का हिरण्य अर्थात् सुवर्णादि वस्तु अर्थात् ज्योति अर्थात् प्रकाश अर्थात् न्याय करने का स्वरूप होता है। जिस प्रकार अलंकार से राजा और प्रजा का धर्म कहा गया है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर का स्व-स्वामी सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है।]

अश्व शब्द परमेश्वर का वाचक

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्ञसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्ञसा वेद॥

—(श.ब्रा.१३.२.३.१)

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहणैव जानाति।

'अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः॥' (श०ब्रा०१३.३.३.५)

अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः। इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञातीस्ति।

तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उनके लिये स्वर्गसुख को जानता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा है, उनको सब स्वर्गसुख देता है।

राजसत्ता पर एक का अधिकार उचित नहीं

राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति॥ (श.ब्रा.१३.२.२.१६) **क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति॥** (श.ब्रा.१३.२.२.१५) **अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति॥** (श.ब्रा.१३.२.२.१७) **विशमेव तद्विशा समर्धयति॥** (श.ब्रा.१३.२.२.१९)

अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति। तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति। तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति। तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति। अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति। तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति। तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते, न च प्रजा। सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति। अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते। तस्मात् प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य इति।

[और भी— (राष्ट्रं वा०) राज्य की अश्वमेध संज्ञा होती है। वही राज्यकर्म में ज्योति को धारण करता है, उसका लाभ राजा को होता है और वह अपने सुख के लिये प्रजा को अपने पीछे चलाता है। इसके अनन्तर क्षत्र की ही अश्वमेधसंज्ञा होती है, जो उसका हिरण्य है, वह उसीका रूप होता है, उस सुवर्णादि धन से क्षत्र से राज्य सम्यक् प्रकार बढ़ता है, न कि प्रजा। वह तो स्वतन्त्र स्वभाव से प्रजा का पालन करता है। इसलिये जहाँ एक ही राजा होता है, वहाँ प्रजा पीड़ित होती है। इस कारण प्रजा के माध्यम से ही राज्य का प्रबन्ध करना चाहिये।]

तथा (राष्ट्रमश्वमेधः०) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है। क्योंकि राजा ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है।

शतपथ के अनुसार 'गणानां त्वा' मन्त्र का अर्थ

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्यैवास्मै ह्नुवतेऽथो ध्रुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्ध्रुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं ध्रुवते॥ (श.ब्रा.१३.२.८.४)

अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे ध्रुवनं तन्वते, नवकृत्वः परियन्ति,

नव वै प्राणाः, प्राणानेवात्मन् दधते, नैभ्यः प्राणा अपक्रान्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते॥ १॥ (श.ब्रा.१३.२.८.५)

(गणानां०) स्त्रियोऽप्येनं, राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः। प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति। अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः। एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात् सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति, धारयति॥ १॥

(गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त हो के भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं, उनके इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं, अन्य लोग उनको बाँध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इसकी रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम 'गर्भ' है, उसके समतुल्य वह सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को, अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उसके पशुओं का भी सुख चाहे॥१॥

इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः। अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्।

यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है, जैसे यह दोष खण्डित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

महीधर : ' ताऽउभौ' मन्त्र का अभिधेय अश्व और राजमहिषी

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां

वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥ २॥ (यजु०२३.२०)

महीधरस्यार्थः—'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति'॥ २॥

महीधर का अर्थ—'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे॥ २॥

शतपथ के अनुसार 'ता उभौ' मन्त्र का सत्य अर्थ

सत्योऽर्थः—

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳसंज्ञपयन्ति। तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै॥ २॥ (श०ब्रा०१३.२.८.५)

'ता उभौ' का अभिधेय राजा-प्रजा

आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय। येन सर्वान् प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि। यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो

भवति। तस्मात् कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः॥ २॥

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिलके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये। जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहने वाला 'ता उभौ०' यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥ २॥

महीधर : ' यकासकौ' मन्त्र सम्भोग की स्थिति का वाचक

यकासकौ शंकुन्तिकाहलगिति वञ्चंति।

आहंन्ति गभे पसो निगंल्गलीति धारंका॥ ३॥ (यजु०२३.२२)

महीधरो वदति—'अध्वर्यादयः कुमारपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। (गभे) भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, [पसः] पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः, (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति'॥ ३॥

महीधर का अर्थ—'यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अङ्गुली से योनि को दिखला के हँसते हैं। (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है, तब भी

हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य झरता है’॥३॥

महीधर : ‘ य॒को॒ऽस॒कौ’ मन्त्र में कन्याओं द्वारा लिङ्ग की उपमा मुख से

य॒को॒ऽस॒कौ शंकुन्त॒कऽआ॒हल॒गिति॒ वञ्चंति।

विवंक्षतऽइव ते॒ मुख॒मध्वंर्यो॒ मा न॒स्त्वम॒भि भांषथाः॥४॥

—(यजु॰२३.२३)

‘कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह। अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते’॥४॥

(यकोसकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है॥४॥

शतपथ के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रों का सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

‘यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः’॥३-४॥ (श॰ब्रा॰१३.२.९.६)

उपर्युक्त दोनों मन्त्र राजप्रजा सम्बन्ध विषयक

(विड् वै॰) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति, तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति॰) विशो गर्भसंज्ञा भवति, पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति। यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात् कारणादेको मनुष्यो राजा

Pustakam

कदाचिन्नैव मन्तव्यः। किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान् स प्रजाभी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम्॥ ३-४॥

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है, कि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम 'गभ' और राज्य का नाम 'पस' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है॥ ३-४॥

महीधर : 'मा॒ता च॑ ते पि॒ता' मन्त्र में माता-पिता के सम्भोग का वर्णन

मा॒ता च॑ ते पि॒ता च॒ तेऽग्रं॑ वृक्षस्य॑ रोहतः।

प्रति॑ला॒मीति॑ ते पि॒ता ग॒भे मु॒ष्टिमत॑ꣳसयत्॥ ५॥ (यजु०२३.२४)

महीधरस्यार्थः—'ब्रह्मा महिषीमाह—महिषि हये हये महिषि! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्। लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः'॥ ५॥

महीधर का अर्थ—[ब्रह्मा राजमहिषी से कहता है—] 'जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला,

तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है’॥५॥

शतपथ के अनुसार ‘माता च ते पिता च’ मन्त्र का सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

‘माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ, श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति। विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः’॥५॥ (श०ब्रा०१३.२.९.७)

उपर्युक्त मन्त्र राजप्रजा सम्बन्ध विषयक

(माता च ते०) हे मनुष्य! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात्। असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति। सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात्। विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति। (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति। सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च। (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्यप्रदा, (राष्ट्रं मुष्टी०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव। यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति। अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात् स नैव कदापि मन्तव्यः॥५॥

सत्य अर्थ—(माता च ते०) सब प्राणियों को पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान है। क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सबका पालन करनेवाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग

जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है। क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम 'गभ' अर्थात् ऐश्वर्य को देने वाली और राज्य का नाम 'मुष्टि' है। क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहाँ अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख देने वाली लक्ष्मी है, उसको ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये। इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥५॥

महीधर : 'ऊ॒र्ध्वमे॑ना॒मुच्छ्रा॑पय' मन्त्र में सम्भोग का वर्णन

ऊ॒र्ध्वमे॑ना॒मुच्छ्रा॑पय गि॒रौ भा॒रꣳ हर॑न्निव।

अथा॑स्यै॒ मध्य॑मेधताꣳ शी॒ते वा॒तें पु॒नन्नि॑व॥६॥ (यजु०२३.२६)

महीधरस्यार्थः—'यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात् यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन् धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः'॥६॥

महीधर : 'यद॑स्या अꣳहु भेद्या॑ः' मन्त्र में सम्भोग का वर्णन

यद॑स्या अꣳहु भेद्या॑ः कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत्।

मु॒ष्काविद॑स्या एजतो गोश॒फे श॑कु॒लावि॑व॥७॥ (यजु०२३.२८)

[महीधरस्यार्थः—] 'यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च

शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते। लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते'॥७॥

महीधर का अर्थ—पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेवें। (यदस्या अꣳहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है, जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इसमें महीधर दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसीं खेती करनेवाला मनुष्य अन्न और भुस अलग-अलग करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भरके ऊपर को उठा के कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं॥ ६-७॥

शतपथ के अनुसार उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति॥ (श०ब्रा०१३.२.९.२) **गिरौ भारꣳ हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳसंनह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति॥** (श०ब्रा०१३.२.९.३) **अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳश्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति॥** (श०ब्रा०१३.२.९.४) **शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति॥ ६-७॥** (श०ब्रा०१३.२.९.५)

उपर्युक्त मन्त्रों में विद्या और धन से राष्ट्रपालन का संकेत

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय, सेव्यामुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगु-

णमुच्छ्रयितुं शक्यम्। (गिरौ भारꣳ हर०) कस्मिन् किमिव, गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थायन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्याह—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार' इति। सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्यात्। अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन् संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः। (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति। कस्मिन् किं कुर्वन्निव, (शीते वात पुनन्निवेति) राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्यात्। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति॥ ६-७॥

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम 'अश्वमेध' है। ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये। कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है। इसमें दृष्टान्त यह है कि—(शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम 'शीत' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है।

श्री (धन) ही राज्य का भार

प्रश्न—राज्य का भार कौन है?

उत्तर—(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः०) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुँचाती है। (अथो०) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सबमें स्थापन कर देते हैं।

Pustakam

प्रजा की रक्षा राज्य का मध्य

प्रश्न—(अथास्यै०) **प्रश्न—**उस राज्य का मध्य क्या है?

उत्तर—प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालना करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त करा देती है॥ ६-७॥

महीधर : 'यद्देवासो' में महिषी-अश्व तथा ऋत्विज्-स्त्रियों के सम्भोग का वर्णन

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।

सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यास्याक्षिभुवो यथा॥ ८॥ (यजु०२३.२९)

महीधरस्यार्थः—'(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवा होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुम्) लिङ्गं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललामं सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनम्) शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा नारी (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते। इयं नारीतीत्यर्थः'॥ ८॥

महीधर का अर्थ—(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्विजों के लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं, और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है॥ ८॥

उक्त मन्त्र का महर्षिकृत सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनम्) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुम्) सुखप्रापकं विद्यानन्दं (प्राविशुः) प्रकृष्टतया समन्ताद् व्याप्नुवन्ति तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति॥८॥

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अङ्गों को वस्त्रों से सदा ढाप रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश, विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें॥८॥

महीधर : 'यद्धरिणो' में शूद्रा-अर्य और शूद्र-अर्या के व्यभिचार सम्बन्ध

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते।

शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥९॥ (यजु०२३.३०)

महीधरस्यार्थः—'क्षत्ता पालागलीमाह—शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री यदा अर्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः। (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह—यत् यदा शूद्रः, अर्यायै अर्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः'॥९॥

महीधर का अर्थ—(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई। (यद्धरिणो०)

अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचार के क्लेश मानता है॥९॥

शतपथ के अनुसार उक्त मन्त्र का सत्य अर्थ

अथ सत्योऽर्थः—

'यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवो राष्ट्रꣳ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति। तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति'॥९॥

—(श०ब्रा०१३.२.९.८)

शूद्र और वैश्य को राज्य का अधिकार नहीं

(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते, तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छा सदैव रक्षति। तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात् कारणाद् वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्ता-दर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति॥९॥

(यद्धरिणो०) यहाँ प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा

होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशु मन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उसका मांस खा जाता है, वैसे एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है। क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है॥९॥

महीधर : 'उत्सक्थ्या' में अश्व से योनि में लिङ्ग डालने की प्रार्थना

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।

य स्त्रीणां जीवभोजनः॥१०॥ (यजु०२३.२१)

महीधरस्यार्थः—'यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गुदमव गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्यं धारय। कथम्? तदाह अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय'॥१०॥

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—'यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व! तू मेरी स्त्री की जंघा ऊपर को करके उसकी गुदा के ऊपर वीर्य डाल दे, अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चला दे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे'॥१०॥

महर्षिकृत उक्त मन्त्र का सत्य अर्थ : व्यभिचारी को दण्ड

अथ सत्योऽर्थः—

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्षविद्वन्! त्वमस्यां प्रजायामङ्गिं ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (य स्त्रीणां जीवभोजनः) [यः] कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय॥ १०॥

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो! तुम सब एक सम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा॥ १०॥

वेदभाष्य-समालोचना-विषयक-निष्कर्ष

एतावतैव खण्डनेन महीधरस्य 'वेददीपा'ख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्या गतिरस्ति, तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा! एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम्।

आगे कहाँ तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायेंगे, और

जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है! तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं, इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है।

नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति। तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति। एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम्।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा, और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना।

(इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः)

Pustakam

(२९) अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

कर्मकाण्ड की प्रतिपादनशैली

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृत-ग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिये, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जायगा। क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादि में कहा हुआ है। उसीको फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान इस भाष्य में भी आ जा सकता है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।

उपासनाकाण्ड की वर्णनशैली

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः।

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना।

ज्ञानकाण्ड और विज्ञानकाण्ड की वर्णनशैली

एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि। कुतः? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनि-

षदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः। एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्त्युपकारो गृह्यते, तच्च विज्ञानकाण्डम्।

[इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड के विषय में समझ लेना चाहिये। क्योंकि इसका विशेष रूप से वर्णन सांख्य, वेदान्त, उपनिषद् आदि शास्त्रों में देखना चाहिये। इस प्रकार तीनों (कर्म, उपासना और ज्ञान) काण्डों के बोध से ग्रहण किया जाने वाला उपकार विज्ञानकाण्ड है।]

काण्डचतुष्टय का व्याख्यान वेदानुसार होने पर ही मान्य

परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरतस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति। स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः। कुतः? मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः।

परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि जो-जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं, और जो-जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं।

व्याकरण का ज्ञान व्याकरणशास्त्र से

एवमेव व्याकरणादिवेंदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च। तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते।

ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। जैसे 'अ॒ग्निमी॑ळे॰' यहाँ अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, 'ग्नि' उदात्त है, इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है, 'मी॑' के ऊपर स्वरित का चिह्न है, 'डे' में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना। इसी प्रकार जो-जो व्याकरणादि के विषय में लिखने के योग्य होंगे, वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायेंगे। क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है। इसलिये उनके

साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायेंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

छन्दों का ज्ञान पिङ्गलसूत्र से

एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् —

[इसी प्रकार छन्द के ग्रन्थ पिङ्गलसूत्र में जैसा छन्द का लक्षण लिखा है, जानना चाहिये—]

स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥१॥

—(पि०सू०३.९४)

इति पिङ्गलाचार्यकृत-सूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते। कुतः? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः।

[इस प्रकार पिङ्गलाचार्यकृत-सूत्र के अनुसार प्रत्येक छन्द पर स्वर लिखे जायेंगे। क्योंकि इस समय छन्द से युक्त मन्त्र में निर्दिष्ट स्व स्वर से वाद्ययन्त्र के साथ गाने का प्रचलन नहीं है।]

वैद्यकविद्या आदि का ज्ञान आयुर्वेद आदि उपवेदों से

एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः। तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते। एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति।

[इस प्रकार वेदों के उपवेद आयुर्वेद आदि से वैद्यकविद्या आदि के विषय में विशेष जानना चाहिये। उसी प्रकार समस्त विशेष अर्थ वेदमन्त्र के भाष्य में अनेक बार किये जायेंगे। इस प्रकार वेदार्थ के प्रकाशन से विज्ञान के पुष्ट हो जाने पर सभी मनुष्यों के समस्त सन्देहों की निवृत्ति होगी।]

Pustakam

वेदभाष्य की शैली

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदार्थोऽर्थो लेखिष्यते। यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते। येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्।

[इस वेदभाष्य में वेदमन्त्रों का संस्कृत और प्राकृतभाषा में सप्रमाण पद का अर्थ लिखा जायेगा। जहाँ-जहाँ व्याकरण आदि प्रमाण आवश्यक होंगे, वे-वे भी वहाँ-वहाँ लिखे जायेंगे।] इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायेगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा।

सायणाचार्य आदि के भाष्य से उत्पन्न भ्रम की निवृत्ति

संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धिं च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति।

[वेदमन्त्रों का शास्त्र और बुद्धि के अनुसार सत्य अर्थ के प्रकाश से] जो-जो सायण, माधव, महीधर और अङ्गरेजी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये गये वा किये जाते हैं, तथा जो-जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों [को देखकर यूरोपखण्डवासियों को वेद के विषय में भ्रम होगया, उस] का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुँचेगा। क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती।

Pustakam

जैसे प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

परम्परा से पुष्ट वेदभाष्य से महान् सुख की प्राप्ति

यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते।

[जब ईश्वर के अनुग्रह से ऋषि-मुनि-महर्षि-महामुनि आर्यों के द्वारा वेदार्थ से युक्त ऐतरेय-ब्राह्मण आदि में कहे गये प्रमाणों से अन्वित मेरे द्वारा किये गये भाष्य के प्रसिद्ध हो जाने पर सब मनुष्यों को महान् सुखलाभ होगा, ऐसा प्रतीत होता है।]

पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च। यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन् कार्याऽर्थसम्बन्धात् सोऽप्यर्थ आगच्छतीति।

[यहाँ जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ होगा, श्लेष अलङ्कार आदि के माध्यम से प्रमाणसहित किया जायेगा। परन्तु एक मन्त्र में भी ईश्वरविषयक मन्त्रार्थ का त्याग नहीं किया जायेगा। क्योंकि ईश्वर इस कार्य जगत् का निमित्तकारण है, इसलिये जहाँ-जहाँ कार्य (जगत्) है, वहाँ-वहाँ ईश्वर (कारण) साथ ही विद्यमान है। जहाँ पर भी व्यावहारिक अर्थ किया जा रहा है,

वहाँ पर भी ईश्वर की रचना के अनुकूल पृथिवी आदि द्रव्यों की सत्ता है। इसी प्रकार पारमार्थिक अर्थ करते समय कारणरूप ईश्वर के साथ कार्यरूप अर्थ (जगत्) सम्बन्धित होता है, इसलिये व्यावहारिक अर्थ भी आ जाता है।]

(इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः)

Pustakam

(३०) अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

वेदों के विभाग का प्रयोजन

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति?

प्रश्न—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं?

उत्तरम् —भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय।

उत्तर—भिन्न-भिन्न विद्या जानने के लिये।

प्रश्नः—कास्ताः?

[वे विद्याएँ कौन-सी हैं?]

वेद में विद्याएँ : **गानविद्या त्रिविधा**

उत्तरम् —त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात्। यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः, प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति। अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति।

अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि— उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है। दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है। तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में। फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है। परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है, इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं।

तथा कहीं-कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे। तथा प्रकरणभेद से कुछ-कुछ

अर्थभेद भी होता है, इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।

ऋग्वेद में पदार्थों के गुणप्रकाश की विद्या

तद्यथा—'ऋग्भिस्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति। सामभिर्गायन्ति।' ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति।

ऐसे ही 'ऋग्भिस्तु०' ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके। क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता, और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है।

यजुर्वेद में ज्ञान का प्रयोगात्मक रूप

तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक-ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है। जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय, तब तक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है, एक—आत्मा और दूसरा—शरीर का। अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें।

Pustakam

सामवेद से ज्ञान और आनन्द तथा अथर्ववेद से समस्त संशयों की निवृत्ति

तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः। एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः। एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति।

[तथा सामवेद में ज्ञान और क्रिया के सुदीर्घ विचार से फलप्राप्ति पर्यन्त विद्या का विचार किया जाता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी तीनों वेदों के मध्य में जो विद्या के फल का विचार किया गया है, उसकी पूर्ति करते हुए रक्षा और उन्नति की जाती है। इस उद्देश्य वेदों के चार विभाग किये गये हैं।]

तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्वसंशयों की निवृत्ति होती है, इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।

वेदों के संहिताकरण का प्रयोजन

प्रश्नः—वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति?

प्रश्न—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तरम् —यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम्।

उत्तर—विद्या के जाननेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है, उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जान ली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में हैं।

वेदों के अष्टक, मण्डल, अध्याय आदि वर्गीकरण का प्रयोजन

प्रश्नः—वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्ति? इत्यत्र ब्रूमः—

प्रश्न—अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क, काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं, ये किसलिये हैं?

उत्तरम् —अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति।

उत्तर—इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन-पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जानली जाय, तथा सब विद्याओं के पृथक्-पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्या व्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञान द्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं।

वेदों को ऋग्, यजुः, साम और अथर्व क्रम से रखे जाने का प्रयोजन

प्रश्नः—किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्याक्रमेण परिगणिताः सन्ति? इत्यत्रोच्यते—

प्रश्न—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं?

ऋग्वेद के प्रथम परिगणन का प्रयोजन : गुण-गुणी का ज्ञान

उत्तरम् —न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च, न चाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुखाभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वाद् ऋग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति।

उत्तर—जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता तब पर्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की

गणना योग्य है।

यजुर्वेद के द्वितीय परिगणन का प्रयोजन : क्रियारूप उपकार

एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति, यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्।

वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके, इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है।

सामवेद का तृतीय स्थान पर परिगणन : ज्ञान, कर्म और उपासना की वृद्धि

तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति।

ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहाँ तक होना चाहिये, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिये उसको तीसरा गिना है।

अथर्ववेद के चतुर्थ स्थान पर परिगणन : परिशेषरक्षा और संशयनिवृत्ति

एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति।

ऐसे ही तीन वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन सबके शेष भाग की पूर्त्ति विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है।

चारों वेदों का प्रयोजन : गुण, क्रिया, उन्नति और रक्षा

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात् क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति।

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान, इनकी उन्नति, तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बाँधी है।

धात्वर्थ के आधार पर वेदों का परिगणन

'ऋच स्तुतौ,' 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु,' 'साम सान्त्वने,' 'षो अन्तकर्मणि,' 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः'॥ (निरु०११.१८)

'चर संशये,' अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते। एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम्।

क्योंकि (ऋच स्तुतौ), (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु), (षो अन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा०) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर लिखे जाने का प्रयोजन

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दः स्वराः किमर्था लिख्यन्ते?

प्रश्न—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं?

मन्त्र के साथ ऋषि लिखे जाने का प्रयोजन

उत्तरम् —यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः? यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः।

उत्तर—ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ, जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

मन्त्रार्थ का महत्त्व

अत्र प्रमाणम् —

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पावाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति। तद्यन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्'॥१॥

—(निरु०१.२०)

(यो वाचं०) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति।

(यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है।

वाणी का प्रयोजन

प्रश्नः—वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह—

प्रश्न—वाणी का फल क्या है?

वाणी का फल : अर्थ को जानकर व्यवहार में प्रवृत्ति

उत्तरम् —विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्। य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति। कीदृशास्ते? साक्षात्कृतधर्माणः। यैः सर्वा विद्या यथाव-द्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः।

उत्तर—अर्थ को ठीक-ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था; वे ही ऋषि हुए थे। जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है।

वेदमन्त्रार्थ के प्रकाश का प्रयोजन

कस्मै प्रयोजनाय?

प्रश्न—किस प्रयोजन के लिये?

उत्तरोत्तरं वेदप्रचाराय।

उत्तर—वेदप्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिये।

निघण्टु और निरुक्त के गठन का प्रयोजन

ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः। येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः।

तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें।

नैघण्टुक व्याख्यान

ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम्। यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया। यच्च मन्त्राद् भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति॥१॥

'निघण्टु' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्मवाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और 'निरुक्त' उसका नाम है कि जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है॥१॥

मन्त्र के साथ ऋषि का उल्लेख अर्थद्रष्टृत्व सूचित करने के लिये

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति।

[इसलिये कोई मनुष्य मन्त्र का निर्माता नहीं हो सकता है, यह जानना चाहिये। इसी प्रकार जिस ऋषि ने जिस-जिस मन्त्र का अर्थ प्रकाशित किया है, उस-उस ऋषि का मन्त्र के साथ सम्बन्ध बताने के लिये नाम का उल्लेख किया है।]

मन्त्र के साथ देवता का उल्लेख अर्थसूचित करने के लिये

तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, सः सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्।

और जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिये। अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

मन्त्र के साथ छन्द का उल्लेख : छन्द एवं गानपद्धति सूचित करने के लिये

एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्त्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम्।

ऐसे ही जिस-जिस मन्त्र का जो-जो छन्द है, सो भी उनके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन-कौन सा छन्द किस-किस स्वर में गाना चाहिये, इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान विद्या में प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती के क्रम से प्रयोग का प्रयोजन

प्र०—वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति?

प्रश्न—वेदों में क्रम वार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है?

अग्नि के प्रथम प्रयोग का प्रयोजन

उ०—पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं, विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा—अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकात्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात् प्रथमं ग्रहणं कृतमस्ति।

उत्तर—पूर्वापर विद्याओं के जानने के लिये अर्थात् जिस-जिस विद्या में जो-जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके। फिर इसी अग्नि शब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है।

वायु के द्वितीय स्थान पर प्रयोग का प्रयोजन

तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात् तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति।

तथा ईश्वर के सबको धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जानने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया गया है। तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है, इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है।

इन्द्र के तृतीय स्थान पर प्रयोग का प्रयोजन

यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते। एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति।

तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक-ठीक जान पड़ती है।

अश्वि के चतुर्थ स्थान पर प्रयोग का प्रयोजन

अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति, एतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति।

तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो। क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं। अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं। इसलिये अश्वि शब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है।

सरस्वती के पञ्चम स्थान पर प्रयोग का प्रयोजन

एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्त्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च। इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति। एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते।

तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है, कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पाँचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

अग्नि, वायु आदि शब्दों से भौतिक पदार्थों का ग्रहण उचित नहीं

प्रश्नः—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति। यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति?

प्रश्न—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। और इसलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो-जो शब्द जहाँ-जहाँ होना चाहिये था, वहाँ-वहाँ उसीका ग्रहण करते, कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता। अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था?

उत्तरम् —'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना 'लण्' इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः? वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्द-प्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात् कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्याग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति।

उत्तर—यूँ तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जबकि व्याख्यानों के

द्वारा मन्त्रों के पद-पद का अर्थ खोल दिया गया है तब उनके देखने से सब सन्देह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद-पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी-किसी की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते, तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

सुगम शब्दों से वेदों का उपदेश

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्।

इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसीलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं।

वेदभाष्यशैली

एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात् काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिताः, इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते। तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या

विद्योपदिष्टोऽस्ति, सा सा तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते।

इस प्रकार चारों वेदों में जो-जो विद्या हैं, उनमें से कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस-जिस मन्त्र में जिस-जिस विद्या का उपदेश है, सो भी उसी उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे।

(इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः)

Pustakam

(३१) अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

वैदिक शब्दों के विशेष नियम

अथ निरुक्तकाराः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो-जो नियम निरुक्तादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यत्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। अथाध्यत्मिक्यश्च उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना॥ (निरु०७.१.२)

तीन प्रकार के अर्थ : परोक्ष, प्रत्यक्ष और अध्यात्म

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते। तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः। यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति। यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति।

(तास्त्रिविधा ऋचः०) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को। उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष, अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द

और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवालों मन्त्रों में उत्तमपुरुष, अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहाँ स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहाँ भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है।

प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष के प्रयोग का प्रयोजन

अस्याभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति।

यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं। सो यह लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम हैं। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है।

वैदिक प्रयोग न जानने का दुष्परिणाम विकृतभाष्य

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकै- र्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा

उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है। और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

इति संक्षेपतो वैदिकप्रयोगविषयः

Pustakam

(३२) अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

स्वर के दो भेद : उदात्तादि और षड्ज आदि

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदात् सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते।

अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं—जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं। अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनि जी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं—

उदात्त स्वर

'स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य।

(स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, वे स्वर कहाते हैं। (आयामः) अङ्गों का रोकना, (दारुण्यम्) वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊँचे स्वर से बोलना, और (अणुता) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करने वाले होते हैं। अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है।

अनुदात्त स्वर

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।

Pustakam

तथा (अन्वव०) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करने वाले हैं।

स्वरित स्वर

त्रैस्वर्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरङ्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः॥' (महा०भा०१.२.२९) **'उच्चैरुदात्त' इत्याद्युपरि॥**

(त्रैस्वर्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं। अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी। इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखानेवाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति।

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये।

षड्ज आदि स्वर

तथा षड्जादयः सप्त [स्वराः]—

अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं—

षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥ (पि०सू०३.६४)

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या।

(स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गान्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जाने के कारण नहीं लिखते।

इति संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

Pustakam

(३३) अथ व्याकरणनियमविषयः

व्याकरण के सामान्य नियम

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा—

अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं, उनको यहाँ लिखते हैं—

वृद्धिरादैच्॥ १॥ (अष्टा०१.१.१)

'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते।

तद्यथा—'स सुष्टभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति' इति भाष्यवचनम्। अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र॥ १॥

(उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे— 'ऋक्वता' इस शब्द में पद संज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है, और 'भ' संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ॥ १॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ॥ २॥ (अष्टा०१.१.५६)

'प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या' इति भाष्यम्। अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम्॥ २॥

(प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो-जो शब्द पढ़े जाते हैं, उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति के अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता है, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये॥ २॥

न वेति विभाषा॥ ३॥ (अष्टा०१.१.४४)

'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति भाष्यसूत्रम्। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिको समानोऽयं नियमः॥३॥

क्योंकि— (अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों का ठीक-ठीक जान के उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है॥३॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्॥४॥ (अष्टा०१.२.४५)

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः,' सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः। यथाग्न्यादया शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च॥४॥

(बहवो हि०) तीसरा यह नियम है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते हैं, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार के एक-एक शब्द कई-कई अर्थों के वाची हैं॥४॥

ते प्राग्धातोः॥५॥ (अष्टा०१.४.८०)

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च।' अनेन वार्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति। यथा आयातमुपनिष्कृतम्, उपप्रयोभिरागतम्॥५॥

(छन्दसि०) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे पीछे अर्थात् व्यवधान में ही होते हैं। जैसे—'उप प्रयोभिरागतम्' यहाँ 'आगतम्' क्रिया के साथ 'उप' लगता तथा 'आयातमुप' यहाँ 'उप' 'आयातम्' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द

क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं॥५॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ ६॥ (अष्टा०२.३.६२)

षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या।

'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति, तस्या इति प्राप्ते।'

एवमन्यत्रापि। अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः। महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि। अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात्॥ ६॥

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी, विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इसमें ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मान के, अर्थात् इनमें जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय॥६॥

बहुलता से होने वाले कार्य

बहुलं छन्दसि॥ ७॥ (अष्टा०२.४.३९)

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्नूनम् सग्धिश्च मे, अत्तामद्य मध्यतो भेद उद्धृतम्, इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम्॥ ७॥

(बहुलं०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है॥७॥

बहुलं छन्दसि॥ ८॥ (अष्टा०२.४.७३)

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति। वृत्रं हनति, अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति —त्राध्वं नो देवाः॥ ८॥

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता। जैसे—'वृत्रं हनति' यहाँ 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहाँ 'त्रैङ्' धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु होगया। महाभाष्यकार के नियम से 'शप्' लुक् करने से श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि 'शप्' के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। 'शप्' सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब 'शप्' का लुक् होगया तो श्यनादि प्राप्त नहीं होते। ऐसे ही 'श्लु' के विषय में भी समझ लेना॥८॥

बहुलं छन्दसि॥९॥ (अष्टा०२.४.७६)

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणि; धाति प्रियाणि। अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टि; जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम्॥९॥

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय के स्थान में 'श्लु' आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे—'दाति०' यहाँ 'शप्' के स्थान में 'श्लु' प्राप्त था, परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहाँ प्राप्त नहीं, फिर हो गया॥९॥

सिब्बहुलं लेटि॥१०॥ (अष्टा०३.१.३४)

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः।' [वा०]

सविता धर्मं साविषत्, प्र ण आयूँषि तारिषत्। अयं लेटि विशिष्टो नियमः॥१०॥

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो 'सिप्' प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें। जैसे—'साविषत्' यहाँ 'सिप्' को 'णित्' मान के वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है॥१०॥

छन्दसि शायजपि॥११॥ (अष्टा०३.१.८४)

'शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्।' [वा०]

क्व सर्वत्र? हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम्? महीः अस्कभयात्, यो अस्कभयात्, उद्भयात्, उन्मथायतेत्येवमर्थम्। अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः॥११॥

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे रहने पर 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है॥११॥

व्यत्यय

व्यत्ययो बहुलम्॥१२॥ (अष्टा०३.१.८५)

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि सिध्यति बाहुलकेन॥१॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः।

१.सुपां व्यत्ययः, २.तिङां व्यत्ययः, ३.वर्णव्यत्ययः, ४.लिङ्गव्यत्ययः, ५.पुरुषव्यत्ययः, ६.कालव्यत्ययः, ७.आत्मनेपदव्यत्ययः, ८.परस्मैपदव्यत्ययः, ९.स्वरव्यत्ययः, १०.कर्तृव्यत्ययः, ११.यङ्व्यत्ययश्च।

एषां क्रमेणोदाहरणानि—

१. युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः, दक्षिणायामिति प्राप्ते।

२. चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते।

३. त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते।

४. मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते।

५. अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः, वियूयादिति प्राप्ते।

६. श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते।

Pustakam

७. ब्रह्मचारिणमिच्छते, इच्छतीति प्राप्ते।

८. प्रतीपमस्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति [प्राप्ते]।

९. आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ।

१०. व्यत्ययो भवति, स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः॥१२॥

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलि जी ने नव प्रकार से माना है। वे 'सुप्' आदि ये हैं—सुप्; तिङ्; वर्ण; लिङ्ग-पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग; पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम; काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान; आत्मनेपद और परस्मैपद; वर्ण—वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश हो जाते हैं, स्वर—उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय, और यङ् का व्यत्यय होते हैं। इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहाँ देख लेना॥१२॥

वैदिक प्रत्यय

बहुलं छन्दसि॥१३॥ (अष्टा०३.२.८८)

अनेन क्विप् प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते। मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि॥१३॥

(बहुलम्०) इससे 'क्विप्' प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है॥१३॥

छन्दसि लिट्॥१४॥ (अष्टा०३.२.१०५)

वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते। अहं द्यावापृथिवी आततान॥१४॥

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है॥१४॥

लिटः कानज्वा॥१५॥ (अष्टा०३.२.१०६)

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति। अग्निः चिक्यानः, अहं सूर्यमुभयतो ददर्श। प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात् परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति॥ १५॥

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में 'कानच्' आदेश विकल्प करके होता है। इसके 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट् ग्रहण इसलिये है कि 'परोक्षे लिट्' इस लिट् के स्थान में भी 'कानच्' आदेश हो जावे॥ १५॥

क्वसुश्च॥ १६॥ (अष्टा०३.२.१०७)

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति। पपिवान्, जग्मिवान्। न च भवति—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श॥ १६॥

(क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में 'क्वसु' आदेश हो जाता है॥ १६॥

क्याच्छन्दसि॥ १७॥ (अष्टा०३.२.१७०)

क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः। 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति' इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति॥ १७॥

(क्या०) इस सूत्र से वेदों के 'क्य' प्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाता है॥ १७॥

कृत्यल्युटो बहुलम्॥ १८॥ (अष्टा०३.३.११३)

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम्। कृतो बहुलमिति वा। पादहारकाद्यर्थम्।

पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः। अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः। अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम्॥ १८॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः॥ १९॥ (अष्टा०३.३.१२९)

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति। उदाहरणम् —सूपसदनोऽग्निः॥१९॥

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में 'युच्' प्रत्यय होता है॥१९॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते॥२०॥ (अष्टा०३.३.१३०)

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो दृश्यते। उदाहरणम् —सुदोहनमकृणोद् ब्रह्मणे गाम्॥२०॥

(अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में 'युच्' प्रत्यय देखने में आता है, जैसे—'सुदोहनम्' यहाँ 'सु' पूर्वक 'दुह्' धातु से 'युच्' प्रत्यय हुआ है॥२०॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः॥२१॥ (अष्टा०३.४.६)

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति। उदाहरणम् — लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः। लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः। लिट्—अद्य ममार॥२१॥

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं॥२१॥

लेट् प्रत्यय

लिङर्थे लेट्॥२२॥ (अष्टा०३.४.७)

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति। उदाहरणम् —जीवाति शरदः शतम्, इत्यादीनि॥२२॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च॥२३॥ (अष्टा०३.४.८)

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट् प्रत्ययो भवति। उदाहरणम्

— उपसंवादे—अहमेव पशूनामीशै। आशङ्कायाम् —नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम। मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते॥ २३॥

(लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहाँ लिखते हैं। यह लेट् लकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है॥ २२-२३॥

लेटोऽडाटौ॥ २४॥ (अष्टा०३.४.९४)

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः॥ २४॥

(लेटो०) लेट् को क्रम से 'अट्' और 'आट्' आगम होते हैं, अर्थात् जहाँ 'अट्' होता है, वहाँ 'आट्' नहीं होता, जहाँ 'आट्' होता है, वहाँ 'अट्' नहीं होता॥ २४॥

आत ऐ॥ २५॥ (अष्टा०३.४.९५)

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति। उदाहरणम् —मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे॥ २५॥

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के 'आताम्' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे—'मन्त्रयैते' यहाँ 'आ' के स्थान में 'ऐ' होगया है॥ २५॥

वैतोऽन्यत्र॥ २६॥ (अष्टा०३.४.९६)

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट् एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति। उदाहरणम् —अहमेव पशूनामीशै ईशे वा॥ २६॥

(वैतोऽन्यत्र) यहाँ लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है, उसके स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है॥ २६॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु॥ २७॥ (अष्टा०३.४.९७)

लेटः स्थान आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति। उदाहरणम् —तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति,

तारिषत्, तारिषात्, तारिषति, तारिषाति, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्। एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेङ्-विषये बोध्यम्॥ २७॥

(इतश्च०) यहाँ लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है॥ २७॥

स उत्तमस्य॥ २८॥ (अष्टा०३.४.९८)

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति। करवाव, करवावः; करवाम, करवामः॥ २८॥

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्, मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है॥ २८॥

यहाँ लेट् का विषय थोड़ा सा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

तुमुनर्थक प्रत्यय

तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्कसेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः॥ २९॥ (अष्टा०३.४.९)

धातुमात्रात् तुमुन् प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति।

'कृन्मेजन्तः' (अष्टा०१.१.३८) इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः। ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोऽपि। शकारः शिदर्थः।

से—वक्षेण्यः। सेन्—तावामेषे रथानाम्। असे, असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे।

कसे, कसेन्—[प्रेषे], श्रियसे। अध्यै, अध्यैन् — कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै—इन्द्राग्नी आहुवध्यै। कध्यैन्—श्रियध्यै। शध्यै, शध्यैन्—पिबध्यै, सहमादयध्यै। अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै—सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे। तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे॥ २९॥

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं॥ २९॥

शकि णमुल्कमलौ॥ ३०॥ (अष्टा०३.४.१२)

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात् तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः। ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः॥ ३०॥

(शकि०) शक् धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इसके होने से 'विभाजम्' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं॥ ३०॥

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ॥ ३१॥ (अष्टा०३.४.१३)

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। [तोसुन् —] ईश्वरोऽभिचरितोः। कसुन् — ईश्वरो विलिखः॥ ३१॥

(ईश्वरे०) वेदों में 'ईश्वर' शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं॥ ३१॥

कृत्यार्थक प्रत्यय

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः॥ ३२॥ (अष्टा०३.४.१४)

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै-परिधातवै; केन्-नावगाहे; केन्य-

विदृक्षेण्यः; शुश्रूषेण्यः; त्वन्-कर्त्वं हविः॥३२॥

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे 'परिधातवै' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं॥३२॥

स्त्र्यर्थक प्रत्यय

नित्यं संज्ञाछन्दसोः॥३३॥ (अष्टा०४.१.२९)

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां 'ङीप्' प्रत्ययो भवति। गौः पञ्चदाम्नी; एकदाम्नी॥३३॥

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अनन्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है॥३३॥

नित्यं छन्दसि॥३४॥ (अष्टा०४.१.४६)

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्॥३४॥

(नित्यं०) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से से वेदों में 'ङीष्' प्रत्यय नित्य होता है॥३४॥

भवार्थक प्रत्यय

भवे छन्दसि॥३५॥ (अष्टा०४.१.११०)

सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति। अयमणादीनां घादीनां चापवादः। सति दर्शने तेऽपि भवन्ति। मेध्याय च विद्युत्याय च नमः॥३५॥

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में 'यत्' प्रत्यय होता है॥३५॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि

Pustakam

वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र-यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र-तत्र तानि लेखिष्यामः।

इस सूत्र से आगे पादपर्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहाँ इसलिये नहीं लिखे कि वे एक-एक बात के विशेष हैं, सो जिस-जिस मन्त्र में विषय आवेंगे, वहाँ-वहाँ लिखे जायेंगे।

मतुबर्थक प्रत्यय

बहुलं छन्दसि॥ ३६॥ (अष्टा०५.२.१२२)

वेदेषु समर्थानां प्रथमात् प्रतिपादिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते। तद्यथा—भूमादयः—

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्॥ ३७॥ (अष्टा०५.२.९४)

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।

सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्। (बहुल०) अस्मिन् सूत्रे प्रकृतिप्रत्यय-रूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः॥ ३६-३७॥

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से 'विन्' प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुत करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे॥।३६-३७॥

समासान्त प्रत्यय

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि॥ ३८॥ (अष्टा०५.४.१०३)

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम्।' ब्रह्मसामम्, ब्रह्मसामः;

देवच्छन्दसम्, देवच्छन्दः॥३८॥

(अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त 'टच्' प्रत्यय विकल्प करके होता है॥३८॥

धातुएँ बह्वर्थक

सन्यङोः॥३९॥ (अष्टा०६.१.९)

'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा—वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान् वपति। ईडिः स्तुतिचोदनायाञ्चासु दृष्टः, ईरणे चापि वर्त्तते। अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते, पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणेऽपि वर्त्तते, कटे कुरु, घटे कुरु। अश्मानमभितः कुरु, स्थापयेति गम्यते।'

—[अष्टा०महा०१.३.१२.२]

एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति। त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात्॥३९॥

(बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझना चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे—'ईड' धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है, और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये॥३९॥

शि का लोप

शेश्छन्दसि बहुलम्॥४०॥ (अष्टा०६.१.७०)

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति। यथा—विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति॥४०॥

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो 'जस्' के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि'

आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है॥४०॥

सम्प्रसारण

बहुलं छन्दसि॥४१॥ (अष्टा०६.१.३४)

अस्मिन् सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते। यथा—हूमहे इत्यादिषु॥४१॥

(बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है॥४१॥

प्रकृतिभाव

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च॥४२॥ (अष्टा०६.१.१२७)

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम्।' ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः॥४२॥

(ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है॥४२॥

द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ आदेश

देवताद्वन्द्वे च॥४३॥ (अष्टा०६.३.२६)

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्वादन्त्यस्य स्थाने भवति। उदाहरणम् —सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्; इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्त्तिके स्तः। तद्यथा—

देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः॥

अग्निवायू; वाय्वग्नी।

ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च॥

ब्रह्मप्रजापती; शिववैश्रवणौ; स्कन्दविशाखौ।

सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्त्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः॥ ४३॥

(देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे—'सूर्याचन्द्रमसौ०' यहाँ सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—'इन्द्रवायू' यहाँ 'इन्द्र' शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है॥ ४३॥

आगम

बहुलं छन्दसि॥ ४४॥ (अष्टा०७.१.८)

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते। उदाहरणम् —देवा अदुह्र॥ ४४॥

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट्' का आगम होता है॥ ४४॥

आदेश

बहुलं छन्दसि॥ ४५॥ (अष्टा०७.१.१०)

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते। यथा—देवेभिर्मानुषे जने॥ ४५॥

(बहुलं०) इससे 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' भाव बहुल करके होता है॥ ४५॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः॥ ४६॥ (अष्टा०७.१.३९)

'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्॥'

'तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्॥'

'इयाडियाजीकाराणामुपङ्ख्यानम्॥'

इया—दार्विया परिज्मन्। डियाच् — सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगा-

तुया। ईकार—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।

'आङ्याजयारां चोपसङ्ख्यानम्॥'

आङ्—प्रबाहवा। अयाच् — स्वप्नया वाव सेचनम्। अया—र्स नः सिन्धुमिव नावया।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ङ्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार् वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्यया रान्ता षोडशादेशा विधीयन्ते। तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः। सुप्—ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते। लुक् — परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवर्ण—धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्—उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याः नाभौ इति प्राप्ते। ङ्या—अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते। याच्—साधुया, साधु इति प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते॥४६॥

(सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं॥४६॥

जस् प्रत्यय को असुक् का आगम

आज्जसेरसुक्॥ ४७॥ (अष्टा०७.१.५०)

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वम् असुक् इत्ययमागमो विहितः। उदाहरणम् —विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते। एवं दैव्यासः। तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि॥ ४७॥

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो 'जस्' है, उसको 'असुक्' का आगम होता है। जैसे—'दैव्याः' ऐसा होना चाहिये, वहाँ 'दैव्यासः' ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिये॥४७॥

ईट् का आगम

बहुलं छन्दसि॥ ४८॥ (अष्टा०७.३.९७)

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्राननैव भवतीति वेद्यम्॥ ४८॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में 'ईट्' का आगम होता है॥ ४८॥

अभ्यास के कार्य

बहुलं छन्दसि॥ ४९॥ (अष्टा०७.४.७८)

अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते॥ ४९॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है॥ ४९॥

मतुप् के मकार को वकार

छन्दसीरः॥ ५०॥ (अष्टा०८.२.१५)

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते। उदाहरणम् — रेवान् इत्यादि॥ ५०॥

(छन्दसीरः) इससे वेदों में 'मतुप्' प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है॥ ५०॥

रेफ को लकार

कृपो रो लः॥ ५१॥ (अष्टा०८.२.१८)

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्।' कपिलकाः, कपिरका इत्यादीनि॥ ५१॥

(संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है॥ ५१॥

लोप

धि च॥ ५२॥ (अष्टा०८.२.२५)

Pustakam

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिग्रहणं न तत्।

छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे॥ १॥

उदाहरणम् —[इष्कर्त्तारमध्वरस्य], निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते। अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते। अप्राप्तविभाषेयम्॥ ५२॥

(घसि०) इससे वेदों में किसी-किसी अक्षर का कहीं-कहीं लोप हो जाता है॥ ५२॥

हकार को भकार

दादेर्धातोर्घः॥ ५३॥ (अष्टा०८.२.३२)

'हृग्रहोश्छन्दसि' हस्य भत्वं वक्तव्यम्। उदाहरणम् —गर्दभेन संभरति, मरुदस्य गृभ्णाति॥ ५३॥

(हृग्रहो०) इससे वेदों में 'हृ' और 'ग्रह' धातु के हकार को भकार हो जाता है॥ ५३॥

मतुप् और वसु के नकार को रु

मतुवसो रुःसम्बुद्धौ छन्दसि॥ ५४॥ (अष्टा०८.३.१)

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति। गोमः, हरिवः, मीढ्वः॥ ५४॥

(मतु०) इससे वेदों में 'मतुप्' और 'वसु' के नकार को 'रु' हो जाता है॥ ५४॥

विसर्जनीय लोप

वा शरि॥ ५५॥ (अष्टा०८.३.३६)

वा शर्प्रकरणे खपरे लोपो वक्तव्यः। वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः।

अनेन 'वायवस्थ' इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते। अतः सामान्येनापि सार्वत्रिको नियमः॥ ५५॥

(वा शरि) खर् परे है जिससे ऐसे शर् परे रहने पर विसर्जनीय का विकल्प से

लोप हो जाता है॥५५॥

उणादि

उणादयो बहुलम्॥ ५६॥ (अष्टा०३.३.१)

बहुलवचनं किमर्थम्? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'—तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते। 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्' प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। 'कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्' कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः। किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। किञ्च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि, न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि? 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः।

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते'— नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः। 'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'— वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुपस्थितः कथं तत्र भवितव्यम्? 'यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्' प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति। एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादे-वाविहता अपि प्रत्ययाः भवन्ति, यथा—फिडफिड्डौ भवतः। तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति। यथा दण्ड इत्यत्र 'ड' प्रत्ययस्य

डकारस्य इत्संज्ञा न भवति। एतदपि बाहुलकादेव।

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बाँधते हैं कि— (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बहुल होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूने के लिये पढ़े हैं, इनसे अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे—'ऋफिडः' इस शब्द में 'ऋ' धातु से 'फिड' प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं, उनमें जितने कार्य सूत्रों करके होने चाहिये वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है।

(किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः? अत्रोच्यते— (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः। एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति।

(किं पुनः०) इसमें जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं। जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह शब्द सिद्ध होते हैं।

(नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यपत्यनामसु (निघ०२.२) **पठितत्वात्।**

(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहिये, तथा वैयाकरण जितने

ऋषि हैं, उनमें से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है, और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं।

(यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः। एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह—संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः। (कार्याद्वि०) कार्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्यमुणादिषु बोध्यम्॥ ५६॥

अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु-प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहाँ क्या करना चाहिये? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इनमें से जो धातु मालूम पड़ जाये तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी, और जो प्रत्यय जाना जाये तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि जिन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उसमें 'ञ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक-वेद से प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये।

ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुँच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय॥ ५६॥

इति व्याकरणनियमविषयः

(३४) अथालङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः

अलङ्कार

अथालङ्कारभेदा संक्षेपतो लिख्यन्ते।

अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं।

उपमा अलङ्कार

तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते—पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधरणधर्मैर्भवति।

अस्योदाहरणम् —

'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव॥ १॥'

उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा।

तत्र—वाचकलुप्तोदाहरणम् —भीम इव बली भीमबली॥ ।१॥

धर्मलुप्तोदाहरणम् —कमलनेत्रः॥ २॥

धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् —व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः॥ ३॥

वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् —विद्यया पण्डितायन्ते॥ ४॥

उपमानलुप्ता॥ ५॥ वाचकोपमानलुप्ता॥ ६॥ धर्मोपमानलुप्ता॥ ७॥

धर्मोपमानवाचकलुप्ता॥ ८॥

आसामुदाहरणम् —काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः। एवमष्टविधा॥ १॥

उनमें से पहिले उपमालङ्कार के आठ ८ भेद हैं—१.वाचकलुप्ता, २.धर्मलुप्ता, ३.धर्मवाचकलुप्ता, ४.वाचकोपमेयलुप्ता, ५.उपमानलुप्ता, ६.वाचकोपमानलुप्ता ७.धर्मोपमानलुप्ता और ८.धर्मोपमानवाचकलुप्ता। इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं। उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से

Pustakam

बनता है, एक तो उपमान, दूसरा— उपमेय, तीसरा—उपमानवाचक और चौथा—साधारणधर्म। इनमें से 'उपमान' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। 'उपमेय' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। 'उपमानवाचक' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। 'साधारणधर्म' वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इनमें से एक-एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं।

पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि— 'स नः पितेव०' जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करने वाला है।

रूपक अलङ्कार

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः। स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः। स च षड्धा।

तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् —अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते। पूर्णविद्य इति शेषः॥१॥

न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम् — अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना॥२॥

अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम् — ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम्॥३॥

अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् — विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा॥४॥

न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् —साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्यप्रभवा मता॥५॥

अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् —अयं घनावृतात् सूर्याद् विद्यासूर्यो विभज्यते॥६॥

इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छः भेद हैं—१.अधिकाभेदरूपक, २.न्यूनाभेदरूपक, ३.अनुभयाभेदरूपक, ४.अधिकताद्रूप्यरूपक, ५.न्यूनताद्रूप्यरूपक,

और ६.अनुभयताद्रूप्यरूपक। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उसमें भेद नहीं रखना। जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है, इत्यादि।'

श्लेष अलङ्कार

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च।

१.तत्र—प्रकृतविषयस्योदाहरणम् — यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः। अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः। यथा च श्वेतो धावति। अलम्बुसानां यातेति। तथैव अग्निमीडे इत्यादि।

२.अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् — हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना।

३.अथ प्रकृताप्रकृतविषयस्योदाहरणम् — उच्चरन् भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः।

तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है। उसके तीन भेद हैं—१.प्रकृत, २.अप्रकृत और ३.प्रकृताप्रकृतविषय। जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह श्लेष कहाता है। जैसे—'नवकम्बल' इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक— नव हैं, कम्बल जिसके, दूसरा— नवीन है कम्बल जिसका।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं, सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलङ्कार हैं, सो जहाँ-जहाँ वेदभाष्य में आवेंगे वहाँ-वहाँ लिखे जायेंगे।

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥

—(ऋ०१.८९.१०)

अस्मिन् मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्रहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायेंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायेंगे। वे अर्थ ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात और जनित्व।

अन्य अनेक अलङ्कार

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र तत्र त आगमिष्यन्त तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।

[इस प्रकार के अन्य बहुत सारे अलङ्कार हैं, उन सबको यहाँ नहीं लिख रहे हैं। जहाँ कहीं वे आयेंगे, वहाँ-वहाँ उनका व्याख्यान करेंगे।]

(इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः)

Pustakam

(३५) अथ ग्रन्थसंकेतविषयः

संहिताओं के सङ्केत

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः—

अब वेदभाष्य में चारों वेद, [षट्शास्त्र, षड् अङ्ग, चार ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक] के जहाँ-जहाँ प्रमाण लिखे जावेंगे, उनके संकेत दिखलाते हैं।

१. ऋग्वेदस्य (ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—'(ऋ०१।१।१॥')

देखो ऋग्वेद के जहाँ प्रमाण लिखेंगे, वहाँ ऋग्वेद (ऋ० और मण्डल १ सूक्त १ मन्त्र १ इनका पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये। जैसे—'(ऋ०१।१।१॥'

२. यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'य०१।१॥';

२. इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'य०१।१॥';

३. सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'साम०पू०१।१।१॥' पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु—साम०उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य।

अत्रायं विशेषोऽस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठ-कश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—'साम०उ०१। पू०१॥; साम० उ०१। उ०१॥' अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव।

Pustakam

३. सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये। जैसे—'साम०पू०१।१।१॥' यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठक पर्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायेगा। उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा।

[यहाँ यह विशेष है। उत्तरार्चिक में दशति नहीं होती हैं, परन्तु अर्धप्रपाठक पर मन्त्रसंख्या पूर्ण होती है। इसलिये प्रथम— पूर्वार्धप्रपाठक, द्वितीय—उत्तरार्धप्रपाठक। जैसे—'साम०उ०१। पू०१॥; साम० उ०१। उ०१॥'] इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। 'साम०उ०१। पू०१॥; साम० उ०१। उ०१॥'

४. अथर्ववेदे (अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा — '(अथर्व०१। १। १॥'

४. इसी प्रकार अथर्ववेद में (अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'(अथर्व०१। १। १॥'

ब्राह्मणग्रन्थों के सङ्केत

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ० प्रथमाङ्कः पञ्चिकाया, द्वितीयः कण्डि-कायाः। तद्यथा—'ऐ०१।१।'॥

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का- 'ऐ०१।१॥'

२. शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकाया। तद्यथा—'श०१।१।१।१॥'

२. शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का-'श०१।१।१।१॥'

३. एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र

लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'छा०१।१।१॥'

३. सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस-जिस का प्रमाण जहाँ लिखेंगे उस-उसका ठिकाना वहाँ धर देंगे। जैसे एक छान्दोग्य कहाता है, उसका छा०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का। जैसे—'छा०१।१।१॥'

४. एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा—'गो. १।१॥'

४. चौथा गोपथ-ब्राह्मण कहाता है, उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का। जैसे—'गो०१।१॥' इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा।

षट्शास्त्रों के सङ्केत

५. एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्, तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'मी०१।१।१॥'

५. ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र, उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो-'मी०१।१।१॥'

६. द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं, तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'वै०१।१।१॥'

६. दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का। जैसे—'वै०१।१।१॥'

७. तृतीयं न्यायशास्त्रम्, तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्।

७. तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो।

८. चतुर्थं योगशास्त्रम्, तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'यो०१।१॥'

८. चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का-'यो०१।१॥'

९. पञ्चमं सांख्यशास्त्रम्, तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—'सां०१।१॥'

९. पाँचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'सां०१।१॥'

१०. षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यम्, तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'वे०१।१।१॥'

१०. छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से-'वे०१।१।१॥'

व्याकरण के सङ्केत

११. तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणम्, तत्राष्टाध्यायी, तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्या-यस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—'अ०१।१।१॥' एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते।

११. तथा अङ्गों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'अ०१।१।१॥' इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा, उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे। उसीसे उसका पता जान लेना चाहिये।

निघण्टु और निरुक्त के सङ्केत

१२. तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। निघण्टौ—'१।१॥' निरुक्ते—'१।१॥' खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ।

१२. तथा निघण्टु और निरुक्त में दो-दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे।

तैत्तिरीय आरण्यक के सङ्केत

१३. तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य—'तै०१।१॥'

Pustakam

१३. तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे।

इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम्। यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम्।

ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाय, जिस किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले। और जिन ग्रन्थों के संकेत यहाँ नहीं लिखे उनके प्रमाणों का जहाँ कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायेगा। परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े।

इति ग्रन्थसङ्केतविषयः

मन्त्रार्थभूमिका प्रयोजन

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः।
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णकार्यार्थेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥१॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उनमें क्या-क्या विषय हैं, इत्यादि बातों को अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है। इसको जो ठीक-ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे, उनका व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों के युक्त जो भूमिका है, इसको मैंने

Pustakam

संक्षेप से पूर्ण किया। और इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूँ॥१॥

मन्त्रार्थ का क्रम

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।

पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥२॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है। इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है॥२॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ता॒नि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व॥ —(यजु॰३०.३)

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तेग्वेंदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत्॥

Pustakam